

# बहुवचन

हिंदी की अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक पत्रिका

प्रधान संपादक  
गिरीश्वर मिश्र

संपादक  
अशोक मिश्र



महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा का प्रकाशन

## **बहुवचन**

अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक

अंक : 52 (जनवरी-मार्च 2017) ISSN- 2348-4586

प्रकाशक : महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र)

## **संपादकीय संपर्क :**

संपादक बहुवचन

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

गांधी हिल्स, पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा- 442001 (महाराष्ट्र)

मो. संपादक- 7888048765, 09422386554, ईमेल- bahuvachan.wardha@gmail.com

प्रकाशन प्रभारी : राजेश कुमार यादव

ईमेल- rajeshkumaryadav97@gmail.com फोन- 07152-232943, मो. 09975467897

## **© संबंधित लेखकों एवं रचनाकारों द्वारा सुरक्षित**

प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा या संपादकों की सहमति अनिवार्य नहीं है।

## **पत्रिका न मिलने की शिकायत इस पते पर करें :**

प्रचार प्रसार : सुरेश कुमार यादव

फोन : 07152-232943, मो. 09730193094, ईमेल- s.ujala80@gmail.com

## **बिक्री और प्रसार कार्यालय :**

प्रकाशन विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

गांधी हिल्स, पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा- 442001 (महाराष्ट्र) भारत

फोन : 07152-232943, फैक्स : 07152-230903

वार्षिक सदस्यता के लिए बैंक ड्राफ्ट महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय के नाम से, जो वर्धा में देय हो, ऊपर लिखित बिक्री कार्यालय के पते पर भेजें। मनीऑर्डर स्वीकार्य नहीं।

अंक : रु. 75/-, वार्षिक शुल्क रु. 300/-, द्विवार्षिक शुल्क रु. 600/- व्यक्तिगत संस्थाओं के लिए वार्षिक शुल्क रु. 400/-, द्विवार्षिक रु. 800/- (डाक खर्च सहित)

विदेश में : हवाई डाक : एक प्रति 15 अमेरिकी डॉलर/7 ब्रिटिश पाउंड

समुद्री डाक : एक प्रति 8 डॉलर/5 ब्रिटिश पाउंड

आवरण : देवप्रकाश चौधरी

## **BAHUVACHAN**

A QUARTERLY INTERNATIONAL JOURNAL IN HINDI

PUBLISHED BY: MAHATMA GANDHIAN TARRASHTRIYA HINDI VISHWAVIDYALAYA

GANDHI HILLS, POST-HINDI VISHWAVIDYALAYA, WARDHA-442001 (MAHARASHTRA) INDIA.

मुद्रक : क्विक ऑफसेट ई-17, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032 (फोन : 011-22824606, मो. 9811388579)

## अनुक्रम

<b>आरंभिक</b>	
लघु पत्रिकाओं का संकट	4
<b>वैचारिकी</b>	
गांधी : एक विमर्श/ रतन लाल	7
भाषा, साहित्य और हिंदी सिनेमा/ साकेत कुमार सहाय	16
<b>स्मृति शेष</b>	
तर्क, विवेक, विज्ञानबोध और मुद्राराक्षस/ कृष्ण प्रताप सिंह	24
आलोचना रचना से कमतर नहीं होती : श्रोत्रिय/ (प्रभाकर श्रोत्रिय से कमलेश भट्ट 'कमल' की बातचीत)	28
<b>संवाद</b>	
लेखक की पॉलिटिक्स उसके लेखन में दर्ज रहती है/ विजय बहादुर सिंह	36
<b>खोज</b>	
एक राजस्थानी सत्यकथा से जन्मी 'हार की जीत' कहानी/ बुद्धिनाथ मिश्र	60
हार की जीत/ सुदर्शन	63
<b>लंबी कहानी</b>	
पाइपर-माउस/ राजेंद्र चंद्रकांत राय	68
<b>कहानी</b>	
सैडी और सेंमल का वृक्ष/ अमरीक सिंह दीप	86
<b>कविता</b>	
रामदरश मिश्र	93
विष्णु नागर	96
अनंत मिश्र	100
नरेन्द्र पुण्डरीक	105
लालित्य ललित	108
<b>यात्रा डायरी</b>	
यह, वह देश तो नहीं/ देवेन्द्र चौबे	112
<b>यात्रा वृत्तांत</b>	
'तानसेन सिरमौर रसिक जन के...'/ राजेश कुमार व्यास	121
<b>संगीत</b>	
विलायत खान : 'कोई है ...'/ नीलाक्ष गुप्त	128
<b>भाषा विमर्श</b>	
21वीं सदी : हिंदी की रिनेसॉन्स सदी...?/ किशोर वासवानी	135
<b>आलोचना</b>	
नलिन विलोचन शर्मा : एक विरल व्यक्तित्व / साधना अग्रवाल	145
छायावाद के प्रथम निबंधकार : मुकुटधर पाण्डेय/ रामनारायण पटेल	150
नित्यानंद तिवारी : मध्ययुगीन काव्य की सामयिक व्याख्या/ रविरंजन	155

# लघु पत्रिकाओं का संकट

बहुवचन का साहित्य से इतर एक नए 'मेरे सपनों का भारत' विषय पर केंद्रित अंक का पाठकों ने उत्साह से स्वागत किया। साहित्य से अलग हटकर इस विषय का चयन प्रधान संपादक और विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो. गिरीश्वर मिश्र का था जिसे सराहा जा रहा है। हमारे समय के बहुत ही बुजुर्ग कथाकार कवि रामदरश मिश्र को यह अंक कविता, कहानी की लीक से हटकर काफी पसंद आया और उन्होंने खुलकर इसकी प्रशंसा की। कई पाठकों ने निजी तौर पर फोन पर प्रतिक्रिया देते हुए कहा कि साहित्यिक पत्रिकाएं कविता, कहानी, आलोचना के आसपास ही एक सीमित दायरे में घूमती रहती हैं। नए विषयों की खोज नहीं की जाती है जबकि यह चिंता हमारे समय के संपादकों और पत्रिका संचालकों को होनी चाहिए। नए विषय पर कुछ भी नया प्रकाशित किया जाए पाठक उसे पढ़ना चाहते हैं। नए विषयों की खोज और उन पर लेखकों से लिखवाना किसी भी संपादक के लिए काफी श्रमसाध्य कार्य है। इसके बावजूद काम संपन्न हो जाने पर उसके परिणाम साहित्य को नए तरह से समृद्ध करते हैं और नयी दिशा की ओर संकेत भी करते हैं। आज हम एक ऐसे समय में जी रहे हैं जहां प्रतिक्षण सोशल मीडिया, टीवी चैनलों, समाचार वेबसाइटों के माध्यम से अपार और अगणनीय संख्या में फेसबुक टिप्पणियां या ट्विटर पर ट्वीट, लेख, विश्लेषण सुर्खियां बनाकर प्रस्तुत किए जा रहे हैं। ऐसी टिप्पणियों को हम साहित्य की बंधी-बधाई परिभाषाओं की तय सीमा में भले ही किसी विधा का दर्जा न दें लेकिन वे हैं तो विचार ही जो कि किसी नयी विधा का रूप भी हो सकते हैं और समय के तीव्र प्रवाह में क्षणभंगुर भी। अब तो सोशल मीडिया और फेसबुक पर लिखने वाले लेखकों का भी एक वर्ग तैयार हो रहा है भले ही उन्हें साहित्यिक मान्यता मिले न मिले वे अपना काम कर रहे हैं। यह आने वाला समय तय करेगा कि ऐसी अभिव्यक्तियां साहित्य में देर तक टिकेंगी या खेत रहेंगी।

स्वतंत्रता के बाद छठे दशक से ही समाज में बदलाव और युवा पीढ़ी को सामाजिक चेतना से लैस करने के लिए जो पत्रिकाएं निकालीं गयीं उनमें साहित्य से इतर शिक्षा, सामाजिक विमर्श, धर्म निरपेक्षता, राष्ट्रवाद, धर्म, सांस्कृतिक मूल्यों की नई व्याख्या और विमर्श उनके मूल स्वभाव का हिस्सा रहे। इन पत्रिकाओं की बुनियादी शर्त जनवादी वैचारिक प्रतिबद्धता रही जिसने हिंदी पट्टी में एक नयी अलख जगाई। एक समय सरस्वती, चांद, माधुरी, विशाल भारत, मतवाला, कहानी, कल्पना आदि पत्रिकाओं के बिना हिंदी के परिदृश्य को आधा-अधूरा माना जाता था। आज भी हिंदी में लगभग एक हजार के आसपास अनियतकालीन पत्रिकाएं निकल रही हैं। इन पत्रिकाओं के माध्यम से नयी रचनाशीलता और हाशिए पर पड़े उपेक्षित समाज के विमर्श सामने आ रहे हैं। हम कह सकते हैं कि ये लघु पत्रिकाएं दूसरी तरह से नवजागरण का काम कर रही हैं। यह लिखते हुए दुःख होता

है कि हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता और ये लघु पत्रिकाएं दोनों ही अस्तित्व के संकट से गुजर रही हैं। यह संकट प्रमुख रूप से दो स्तरों पर है। इन सभी पत्र-पत्रिकाओं का पहला संकट आर्थिक निर्भरता का है जबकि दूसरा प्रसार से जुड़ा होकर साहित्य प्रेमी पाठकों तक पहुंचने का है। हिंदी की बड़ी व्यावसायिक पत्रिकाएं जब एक-एक कर बंद हुईं तो उसके बाद हिंदी की दुनिया लघु पत्रिकाओं के जरिए ही समृद्ध होकर चलती रही है। हम कह सकते हैं कि आज से करीब दस साल पहले दिल्ली की शीला दीक्षित सरकार की पहल पर हिंदी की सीमित प्रचार वाली करीब तीस से अधिक पत्रिकाओं को जिसमें कई मासिक आवर्तिता वाली पत्रिकाएं भी शामिल रहीं हैं उनको प्रति माह तीस हजार रुपये का मासिक विज्ञापन दिया जा रहा था। यह विज्ञापन पत्रिकाओं के लिए खासा ऑक्सीजन साबित भी हुआ और देखते ही देखते दर्जनों मृत पड़ी पत्रिकाएं जीवित हो उठीं और अपने समय की रचनाशीलता को मंच देने और नए विमर्श खड़े करने की दिशा में भी आगे बढ़ने लगीं। इसी के साथ मध्य प्रदेश सरकार के सूचना विभाग द्वारा जारी विज्ञापनों ने भी लघु पत्रिकाओं को आत्मनिर्भर बनाने की दिशा में खासी मदद की। यह सब ठीक-ठाक चल ही रहा था कि अचानक दिल्ली में एक नवगठित पार्टी की सरकार ने इन विज्ञापनों की योजना को एक झटके में स्थगित कर दिया। इसी के साथ इन पत्रिकाओं को सीमित अवधि के लिए जो भी आर्थिक साधन मिले थे वह दम तोड़ते दिखे और पत्रिकाएं फिर से मुरझाने लगीं। हालांकि आज भी ओएनजीसी और केंद्रीय हिंदी संस्थान इन पत्रिकाओं को एक सीमित संसाधन मुहैया करा रहे हैं लेकिन वह काफी नहीं है। आज एक बार फिर से हिंदी की कई साहित्यिक पत्रिकाएं जिसमें कथादेश जैसी स्तरीय पत्रिका भी शामिल है वे जैसे जैसे निकल रही हैं और स्थिति में परिवर्तन न होने पर कभी भी, किसी भी पत्रिका के संबंध में पाठकों को निराश करने वाली खबर आ सकती है। देखने की बात यह है कि चाहे हमारी राज्य सरकारें हों या केंद्र सरकारें उनकी सांस्कृतिक नीति के दायरे में साहित्य के लिए स्थान ही नहीं होता है। हम कह सकते हैं कि यह बहुत ही निराश करने वाला मुद्दा है और इससे भी महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि यह विषय लेखक संगठनों या फिर हिंदी लेखकों की चिंता का विषय नहीं बनता।

अब हम दूसरे संकट की चर्चा करते हैं। यह दूसरा संकट पत्रिकाओं और पाठकों तक पहुंचने के माध्यम बाजार से जुड़ा हुआ है। साहित्यिक पत्रिकाओं का कोई भी ठोस नेटवर्क अब तक विकसित नहीं हो पाया है। हमारे समय में कई सांस्थानिक और लघु पत्रिकाएं समकालीन भारतीय साहित्य, इंद्रप्रस्थ भारती, दस्तावेज, पल प्रतिपल, पक्षधर, रचना समय, कथादेश, तद्भव, पहल, लमही, बहुवचन, पुस्तक वार्ता सहित बहुतेरी पत्रिकाएं शामिल हैं जो कि वितरण का कोई साधन न होने से पाठकों की मांग के बावजूद उन तक नहीं पहुंच पातीं। ये पत्रिकाएं यदि उधार भेजी जाती हैं तो दुकानदार पत्रिका बेचकर पैसे अपनी जेब में रख लेता है लेकिन पत्रिका संचालक को नहीं चुकाता। यदि हजार, दो हजार की उधारी रकम वसूलने के लिए किसी को पटना, भोपाल, शिमला, लखनऊ रांची जाना पड़ता है तो वह काफी कठिन और व्ययकारी होता है। हम कह सकते हैं कि जितनी रकम बाकी होती है उससे अधिक धनराशि यात्रा पर खर्च हो जाती है। कुल मिलाकर निजी स्तर पर निकलने वाली किसी छोटी पत्रिका या काफी हद तक सांस्थानिक पत्रिका के लिए यह खासा सिरदर्द का काम होता है। पत्रिकाएं पाठकों तक डाक के जरिए या जिन कुछ स्थानों पर ईमानदार विक्रेता होते हैं उनके माध्यम से पहुंच जाया करती हैं। यहां एक और उल्लेखनीय तथ्य यह है कि

पाठकों के चाहने के बावजूद दूरदराज के गांवों तक ये पत्रिकाएं नहीं पहुंच पातीं। हम कह सकते हैं सीमित ही सही फिर भी साहित्यिक पत्रिकाओं के पाठक हमारे बीच हैं जो खरीदकर पढ़ने में रुचि लेते हैं। यही कारण है कि ये पत्रिकाएं किसी न किसी तरह उनके संपादकों के उत्कट इच्छाशक्ति और सीमित आर्थिक साधनों से चलती रहती हैं। मुझे कई बार लगता है कि सभी लेखक संगठनों को एकजुट होकर हर शहर में साहित्य या पत्रिकाओं की बिक्री के लिए एक कोना या संस्कृति केंद्र विकसित करना चाहिए ताकि इन पत्रिकाओं का संकट में पड़ा अस्तित्व कम से कम बचाया जा सके। इस दिशा में साहित्य अकादेमी या नेशनल बुक ट्रस्ट, केंद्रीय हिंदी संस्थान जैसी संस्थाएं बड़ा कदम उठा सकती हैं। यह काफी दुःखद स्थिति है कि इतने बड़े हिंदी भाषी समाज के लिए कोई ठोस संस्कृति नीति बनाई जाए यह किसी भी सरकार के एजेंडे में नहीं है। लेखक संगठनों की स्थिति ऐसी है कि वे प्रतीकात्मक प्रतिरोध तक सीमित होकर रह जाते हैं जबकि उन्हें इससे आगे बढ़कर काम करने और आंदोलन खड़ा करने की जरूरत है।

बहुवचन के इस नए अंक में हरसंभव प्रयास कर हमारे समय की उत्कृष्ट रचनाशीलता के मध्य से एक रचनात्मक चयन प्रस्तुत किया जा रहा है। पिछले दिनों प्रकाशित हमारे दो विशेषांकों को पाठकों द्वारा खासा सराहा गया है। अंक में पिछले बरस दिवंगत प्रख्यात चिंतक मुद्राराक्षस और वरिष्ठ आलोचक प्रभाकर श्रोत्रिय से संबंधित सामग्री दी जा रही है। इसके अतिरिक्त सदा की भांति कविता, कहानी, यात्रावृत्तांत, यात्रा डायरी, संगीत, सिनेमा, आलोचना से संबंधित सामग्री दी जा रही है जो कि उम्मीद है कि पाठकों को रुचिकर लगेगी। अंक से संबंधित प्रतिक्रियाओं और सुझावों की प्रतीक्षा रहेगी।

अशोक मिश्र

# गांधी : एक विमर्श

रतन लाल

*‘मैं लोगों को नहीं मरवाता। लोगों को मरने में आनंद आता है। इसलिए वे अपने देश अथवा धर्म के निमित्त मरने को तैयार हो जाते हैं।’*—मोहनदास करमचंद गांधी, गांधी वाङ्मय, पृष्ठ, 160

गांधी अत्यधिक लोकप्रिय एवं विवादास्पद चरित्र रहे हैं, अलबर्ट आइंस्टाइन ने मानव काया में ‘मानवेतर मसीहा’, टैगोर ने ‘महात्मा’, तथा राष्ट्र ने ‘बापू’ या फिर ‘राष्ट्रपिता’ कहा। गांधी आज भी मानव स्मृति में कई रूपों ‘गान्धी बाबा’ (मैला आंचल), ‘गंधिया’ (आधा गांव)<sup>1</sup>, में विद्यमान है। और फिर, कई राजनेता तो उन्हें अब गालियां भी देते हैं और सरकारी बजट तो उन्हें भूल सा ही गया है। गांधी के विविध रूपों को तुलसीदास की इस उक्ति द्वारा आसानी से समझा जा सकता है, ‘जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूर्ति देखी तिन तैसी।’

ज्ञान का विमर्श, तर्क का विमर्श होता है और समीक्षा का उद्देश्य होता है पाठ की उलझनों का पर्दाफाश करना। परंतु ऊपर की पंक्तियां भाव-प्रवण हैं। इस लगभग अक्षम्य अपराध को शायद यही सोचकर माफ किया जा सकता है कि गांधीवादी विमर्श कई बार अतार्किक हो जाता है। बहरहाल 21वीं सदी के इतिहास के छात्र होने के नाते ‘विखंडन’ मेरा धर्म है और मैं अपने अस्वीकार्य भावों पर अंकुश लगाने का वैसा ही प्रयास करूंगा, जिसकी आशा गांधी अपने अनुयायी सत्याग्रहियों से करते थे।

गांधी लिखते थे और खूब लिखते थे, जिसका प्रमाण उनके शताधिक संकलनों की स्थूलता है। इन संकलनों में गांधी द्वारा ‘यंग इंडिया’, ‘नवजीवन’ जैसी पत्रिकाओं में लिखे लेखों के अलावा पत्राचार, भाषण, अंतर्वीक्षाएं, कांग्रेस कमेटी के प्रस्ताव, पत्र, तार संदेश इत्यादि संकलित हैं। जाहिर है हर संकलन चयन की एक प्रक्रिया से गुजरता है और चयन में एक विचारधारात्मक प्रश्न तो होता ही है। गांधी वाङ्मय स्वाधीनता के बाद की केंद्रीय सरकार के श्रम का नतीजा है, जिसमें गांधीवादी राष्ट्रवाद की मुहर साफ है। यह समीक्षा गांधी वाङ्मय के 22वें खंड के पठन पर आधारित है।<sup>2</sup> गांधी से जुड़ी दुर्लभ सामग्री का संयोजन श्लाघ्या है, किंतु पाठ की संभावित अनुपस्थितियों (silences) के अलावा एक खास तरह की भूमिका देना पाठ को एक विशेष खांचे में कैद करना है, पाठकों से एक खास तरह की अपेक्षा रखना है। उदाहरण के तौर पर, ‘भारत के अहिंसक स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास में... वृष्टि छाया की अवधि’ कहा है (पृष्ठ, 5)। एक आरोप से शुरुआत होती है, ‘ठीक उस समय जबकि हमारे संघर्ष की सफलता की लहरें ऊंची से ऊंची उठ रही थी, चौरी-चौरा

में भीड़ हिंसा कर बैठी और गांधी ने सविनय अवज्ञा आंदोलन तत्काल स्थगित कर दिया।<sup>3</sup>

निश्चय ही स्वतंत्रता के बाद भारतीय सरकार हिंसा को लेकर उतनी ही शुद्धतावादी है, जितने शायद गांधी कम-से-कम सैद्धांतिक अर्थ में। गांधीवादी राष्ट्रवाद में शुद्धता के महत्व पर हम फिर लौटेंगे, यहां इतना संकेत कर देना पर्याप्त होगा कि विभिन्न तरह की उक्तियों के संकलन को एक साथ प्रस्तुत करने की यह महती चेष्टा में एक खास किस्म की चतुराई भी है। विजयी राष्ट्रवाद की इस भूत-दृष्टि ने संकलन के कलेवर पर अपनी खास आधिकारिक मुहर लगाई है।

संकलन के दस्तावेजों की अवधि भारत के स्वतंत्रता आन्दोलन की एक महत्वपूर्ण अवधि है। यह भारतीय राजनीतिक क्षितिज पर गांधी और व्यापक जनाधार वाले गांधीवादी राष्ट्रवाद के आरोहण का काल है।<sup>4</sup> गांधी की नजर में खिलाफत-असहयोग का अवसर इतने बड़े पैमाने पर अपने विचारों एवं सिद्धांतों को आजमाने का अवसर है। इस तरह यह 'सत्य के प्रयोगों' का एक गहन अवसर है। पीछे मुड़कर देखें तो गांधीवादी विमर्श और राजनीति के लिए यह काल निर्माणात्मक है, जहां कई महत्वपूर्ण शब्दों और शैलियों से, जो आगे चलकर राष्ट्रवादी विमर्श का हिस्सा बन जाती है, लगभग पहली बार मुखामुख होने का पाठक को मौका मिलता है। चूंकि यह आन्दोलन का समय है, इसलिए कई दिशाओं में गतिविधियों की सरगर्मी है। संकलन के विभिन्न अंशों को पढ़ने से एक अभूतपूर्व राष्ट्रीय यज्ञ-धर्म-यज्ञ-के आयोजन का आभास होता है, जिसमें विभिन्न इलाकों के पुरुष और महिलाएं यथाशक्ति अपना योगदान करते दिखते हैं।<sup>5</sup> यह तब तक चलता रहता है, जब तक चौरी-चौरा की अपवित्रता इसे नष्ट नहीं कर देती! यज्ञ का उद्देश्य है- स्वराज्य, जो निकट भविष्य में प्राप्य था, अब गांधी के हाथों नए मायने एवं नई रचनात्मक दिशा अख्तियार कर लेता है। वैसे पाठ का एक बड़ा हिस्सा स्वराज्य के अर्थों को परिभाषित करने, उसके संबंध में प्रचलित विभ्रमों को साफ करने में लगी गांधीवादी ऊर्जा का गवाह है, जिस पर हम थोड़ी चर्चा आगे करेंगे।

बहरहाल, इस आंदोलन के लिए यज्ञ की उपमा समीचीन लगती है। गांधी की शब्दावली ज्यादातर हिंदू परंपराओं से आती है। उनके मुहावरे, प्रेरणाएं और उनके दृष्टांत हिंदू-शास्त्रीय ग्रंथों से उद्धृत हैं। 'राष्ट्रीय आंदोलन के साथ गहरी सहानुभूति' रखने वाले गांधी के एक मित्र ने इसे 'आध्यात्मिक आंदोलन' की संज्ञा दी है।<sup>6</sup> गांधी के अपने शब्दों में अहिंसा एक व्रत है।<sup>7</sup> खिलाफत एवं गौ-रक्षा की बात एक सांस में कह देना तो इतिहास-प्रसिद्ध तो है ही, गांधीवादी विमर्श में दैवी हस्तक्षेपों का प्राचुर्य है- चाहे वह साहस जुटाने के लिए ईश्वर का आह्वान कर रहे हों या फिर आंदोलन रोकने के लिए इसकी चेतावनी की दुहाई दे रहे हों। बिहार में अछूत-प्रथा के चलते ईश्वर के श्राप का भूकंप का रूप लेना एक विलक्षण गांधीवादी कार्य-कारण संबंध की रचना करता है और इस पर टैगोर को हुई चिढ़ से हम सब परिचित हैं।<sup>8</sup> गांधी साथी-सहयोगियों को निरंतर त्याग और तपस्या, बलिदान की प्रेरणा देते हैं। उनके हिसाब से मौत के डर पर विजय अंतिम आदर्श है।<sup>9</sup> प्रातः काल उठकर और ऐसी दुधुर्ष प्रेरणा के लिए ईश्वर की प्रार्थना वांछित है, 'ईश्वर तू मुझे पवित्र बनाए रख। तू मुझे अपनी पवित्रता की रक्षा के लिए आवश्यक बल दे और ऐसी स्थिति दे जिससे मैं अपने प्राण त्यागकर भी अपनी पवित्रता की रक्षा कर सकूँ। तेरे समान रक्षक होते हुए मुझे भय किसका है?'<sup>10</sup>

सत्याग्रही का आदर्श कभी पौराणिक प्रह्लाद बनता है तो कभी गीता का 'स्थित-प्रज्ञ' अर्जुन।<sup>11</sup> इस अवधि में खास तौर पर गीता गांधी का एक प्रिय ग्रंथ है। वैसे, महज गांधी का क्यों, बंकिम



चन्द्र<sup>12</sup> की 1902 ई. में प्रकाशित 'श्रीमद्भगवद्गीता' से लेकर तिलक और सहजानंद सरस्वती जैसे तमाम टीकाकारों ने गीता को अपने युगधर्म से जोड़ने की कोशिश की। गीता की यह लोकप्रियता अपने आप में शोध और पड़ताल की मांग करती है। एक अनिश्चित भविष्य की अवधि होते हुए भी योगी की निष्काम तपस्या करने का कृष्ण का उपदेश शायद उस माहौल में एक सहज-सुलभ प्रेरणास्रोत रहा होगा : 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मां फलेषु कदाचन।' गांधीवादी विमर्श में हालांकि गीता के आदर्श उटपटांग मुठभेड़ पैदा करने में सक्षम थे और एक से अधिक बार गांधी को शांति के बारे में अपनी स्थिति स्पष्ट करनी पड़ी, 'मुसलमान और 'गीता' का पारायण करने वाले विद्वान मुझसे कहते हैं कि विशेष अवसरों पर तलवार का उपयोग धर्मानुकूल है और स्वयं कृष्ण भगवान ने अर्जुन को युद्ध करने के लिए प्रेरित किया था। मेरे लिए तो अहिंसा की परम धर्म है। वह आपके लिए भले ही व्यवहार धर्म हो।' <sup>13</sup>

है न एक 'सनातनी हिंदू' द्वारा गीता की यह जैनी विवेचना! जाहिर है गीता जैसे लोकप्रिय ग्रंथ के लोगों के लिए अलग-अलग मायने हो सकते थे। कई टीकाकारों के लिए गीता ऐतिहासिक दस्तावेज थी। पर गांधी उसे 'धार्मिक कथानक' कहते हैं और महाभारत को वास्तविक युद्ध की कहानी न मानकर 'काव्यात्मक' या 'रूपकात्मक' आख्यान मानते हैं 'मानवता के हृदय के युद्ध का।' इस अन्तर-बाह्य विभेद ने गांधी को गीता के 'युद्धस्व भारत!' के 'कटु यथार्थ' को नजरंदाज करने में भरपूर सहायता की। उसे रूपक मान लेना भी गीता के गांधीवादी पाठ के लिए अनिवार्य रणनीति थी : इससे गीता की वैकल्पिक विवेचना का द्वार सहज ही खुल जाता है। गांधी ने अन्यत्र कहा है- 'गीता कोई सैद्धांतिकी नहीं है, यह एक जीवंत परंतु मूक दिग्दर्शिका है, इसके निर्देशों को ग्रहण करने के लिए हमें धैर्यपूर्ण कोशिश करनी होगी।' <sup>14</sup>

और इस खंड में, 'हमें अपने धर्मग्रंथों से ऐसी चीजों को निकाल देना चाहिए जिनका उद्गम शंकास्पद हो।... अपने धर्मग्रंथ को इस तरह से तोड़-मरोड़कर नहीं पेश करना चाहिए जिससे वे (अछूतों) के खिलाफ पड़ें।' <sup>15</sup>

इस तरह शास्त्रीय ग्रंथों के प्रमाण गांधी के लिए आत्यंतिक नहीं है। अगर उनके निष्कर्ष या दृष्टांत अवांछनीय है तो त्याज्य भी। यहां गांधी ने गीता की शास्त्रीयता, प्रमाणिकता एवं पवित्रता सबों पर प्रश्नचिह्न लगाया और अन्य टीकाकारों से भी ज्यादा स्वतंत्रताएं पाठ से लीं परंतु गांधी जैसे घोर आस्थावादी चिंतक-सुधारक-राजनेता के लिए शास्त्रीय ग्रंथों की उपयोगिता अवश्य बनी रहती है। अस्पृश्यता के प्रश्न पर ही वे विट्ठलभाई एवं अन्य प्रतिनिधियों से कहते हैं- 'गीता में पांच वर्णों का नहीं, चार ही वर्णों का उल्लेख है। क्या आप इस पांचवें वर्ण को चार मूल वर्णों में खपाने के लिए तैयार हैं।' <sup>16</sup>

समानता का बर्ताव करने की अपील करते हुए गांधी अपने श्रोता समूह की संभावित प्रतिक्रिया से किंचित डर भी जाते हैं और अपनी स्थिति का खुलासा इन शब्दों में करते हैं, 'आप ऐसा न समझना की मैं तो एक भ्रष्ट और सुधारवादी मनुष्य हूं। मैं शुद्ध सनातनी हिंदू के रूप में यह मानता हूं कि जैसी अस्पृश्यता इस समय बरती जा रही है, हिंदू धर्मशास्त्रों में वैसी अस्पृश्यता के लिए कोई स्थान नहीं है।' <sup>17</sup> एक आपत्ति इस तरह की आती है, 'कुछ लोग कहते हैं कि अस्पृश्यता की प्रतिज्ञा हटा लें, फिर देखें कितने स्वयंसेवक भर्ती होते हैं।' <sup>18</sup>

इन उद्धरणों में दो चीजें गौरतलब हैं : पहली पिछली सदी से चलाए जा रहे सुधार आंदोलन (खासकर उनका अस्पृश्यता विरोधी पक्ष), हिंदू असहयोगियों के लिए निषेधात्मकता और अस्वीकार्यता की परिधि में आ गया है और इसलिए गांधी 'सुधारवाद' के 'भ्रष्ट' पथ से अपनी दूरी बनाए रखने का सचेत प्रयास करते हैं। दूसरे, अस्पृश्यता के प्रश्न पर ऐसी आपत्तियां करने वालों को करारा जवाब 'नाच न जाने आंगन टेढ़ा'<sup>19</sup> के मुहावरे से देते हैं।

स्पष्ट है कि गांधी के लिए अस्पृश्यता का प्रश्न अविभाज्य रूप से स्वराज्य से जुड़ा है और यहां वे समझौता करने के लिए तैयार नहीं हैं, 'हम अछूतों को छोड़कर स्वराज्य रूपी स्वर्ग में नहीं जा सकते।'<sup>20</sup> अब अस्पृश्यता से गांधी का क्या मतलब है और उसके निवारण की कौन सी तरकीबें वे सुझाते हैं? संक्षेप में, 'अछूत वे सब हैं जिनका स्पर्श हम अभिमानवश अपने को दूषित कर वाला समझते हैं। इसलिए हमें न केवल उनको छूना चाहिए बल्कि उनकी सेवा करनी चाहिए।'<sup>21</sup> गांधी के हिसाब से छुआछूत की समाप्ति के लिए शेष हिंदू समाज को भगीरथ प्रयत्न करने की जरूरत है- तब तक जब तक हम पंचम जाति समाप्त न हो जाए। इस भगीरथ प्रयत्न में वे सेवा की परंपरावादी तारतम्यता का उलट आदर्श प्रस्तुत करते हैं; अर्थात् अन्त्यजों की सेवा की जानी चाहिए। हालांकि ज्यादातर उदाहरणों की स्थितियां आपात-स्थितियां हैं। यथा, 'यदि कोई अछूत बुखार से परेशान है तो मैं उसकी सेवा करूंगा या उसे सांप काट लिया है तो उसके घाव से विष उसी तरह चूसूंगा जैसे यदि मेरे बच्चे को.....'<sup>22</sup> कुएं से पानी खींचने का हक तो है, परंतु 'साथ-साथ खाने पीने का कोई प्रश्न नहीं है। इसका अर्थ यह है कि यह निषिद्ध नहीं है, परंतु इनका आग्रह नहीं है। इन सैद्धांतिक स्थापनाओं के अलावा गांधी खुद अपनी मिसाल देते हैं कि उन्होंने अछूत कन्या को गोद लिया है।'<sup>23</sup> एक महत्वपूर्ण जिक्र अवश्य आता है अछूतों को जब्त जमीनों के लिए बोली लगाने का एकाधिकार देने का, जिसे गांधी आदर्श विचार मानकर स्वीकार करते हैं, पर यह सुझाव थोड़े समय के लिए, अस्थायी समाधान के रूप में ही स्वीकृत होता है।

दीगर मुद्दों की तरह गांधी अस्पृश्यता को भी हृदय परिवर्तन का मसला ही मानते हैं। वे अपेक्षा करते हैं संभ्रांतों से कि वे अपने कुसंस्कारों को त्यागकर मानव गरिमा के अनुरूप व्यवहार करें। गांधी के लिए चतुर्वर्ण व्यवस्था समस्या-परक नहीं है, अपितु पंचम वर्ण का अस्तित्व कष्टदायक है। गोया पांच का समीकरण यदि चार में बदल जाए तो शायद समय के इस मोड़ पर गांधी उतने से संतुष्ट होंगे। अन्य हलकों की तरह यहां भी गांधी को सामाजिक-संबंधों में सत्ता का खेल नहीं दिखता, उलटे : 'भारत के इतिहास में पूंजीपति और श्रमजीवियों के संबंध बुरे नहीं रहे हैं। चार वर्णों की व्यवस्था केवल धार्मिक दृष्टि से ही नहीं, बल्कि आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से भी की गई और मुसलमान संस्कृति के मिश्रण से उस पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ा है क्योंकि मुसलमान संस्कृति सार रूप से धार्मिक संस्कृति है, अतएव गरीबों के लिए कल्याणकर है।'<sup>24</sup>

गांधी चीजों की धार्मिकता को उसके सद्गुण का आत्यंतिक प्रमाण मान लेते हैं। आमतौर पर गांधी की कुशाग्र-दृष्टि, जाति-व्यवस्था और धार्मिक परंपराओं की मजबूत दीवारों को भेदने में अक्षम रहती है। यानी कि धर्म गांधीवादी विमर्श की धुरी है। यहां धर्म अपने सर्वाधिक, व्यापक और उदात्त अर्थों में अभिव्यक्त हुआ है। उनके राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक सपने धार्मिक मुहावरों में ही मुखर हुए हैं। यथा, स्वराज्य के संघर्ष की सिद्धि रामराज्य है, 'इस लड़ाई के अंत में तो रामराज्य

स्थापित होने की आशा है। इस लड़ाई के अंत में गरीबों को आश्रय मिलने की आशा है। इस लड़ाई के अंत में स्त्रियों के सुरक्षित होने की उम्मीद है। इस लड़ाई के अंत में भूख से पीड़ितों की भूख दूर होने की उम्मीद है। इस लड़ाई के अंत में कौमों के बीच व्याप्त पारस्परिक द्वेष के कम होने की आशा है। इस लड़ाई के अंत में अस्पृश्य मानी जाने वाली जातियों की अस्पृश्यता मिटने पर उन्हें भी भाई के समान माने जाने की उम्मीद है। इस लड़ाई के अंत में प्राचीन सभ्यता को अपना स्थान मिलने की तथा प्रत्येक घर में कामधेनु-रूपी चरखे के दाखिल किए जाने की उम्मीद है।<sup>25</sup>

ऐसा लगता है कि 'स्वराज्य' और 'रामराज्य' लगभग समानार्थक, पर्यायवाची शब्द हैं : एक ही 'यूटोपिया' के दो अलग नाम हैं। यूटोपिया इसलिए कि गांधी की नजर में समाज के दो मुख्य कष्ट, विषमताएं व विषमताएं हैं, वे रामराज्य में लुप्त हो जाएंगी। अब 'रामराज्य' उन शब्दों में से एक है जिन्हें गांधी ने समाज (उत्तर भारतीय? हिंदू?) से उठाया और उसमें नए और अनोखे अर्थ भरे। मूल शास्त्रीय संदर्भ शायद रामचरितमानस का ही है। तुलसीदास ने लिखा है :

'दैहिक, दैविक, भौतिक तापा। रामराज्य कबहूँ नहिं व्यापा।' अर्थात् रामराज्य एक अतिरंजित, आदर्शकृत यूटोपियाई स्वप्न के अलावा कुछ भी नहीं। उत्तर भारतीय हिंदू जनमानस में यह स्वप्न अवशिष्ट अर्थ में कल्याणकारी सुशासन के सहज स्वर्णिम आदर्श के रूप में बसता होगा, जिसे गांधी ने असहयोग-खिलाफत के संदर्भ में पुनर्विचिंतित किया, इसे फिर से लोकप्रिय बनाया। इस संदर्भ में वे रामराज्य में 'हिंदू-मुस्लिम' एकता के स्वप्न को भी फलीभूत होते देखते हैं। हालांकि इतिहासकारों ने इसके अलगाववादी दुष्प्रभावों- खासकर मुस्लिम तबकों में- की भी विषद चर्चा एवं आलोचना की है।<sup>26</sup> और इस आलोचना में दम है। उग्रपंथी हिंदुओं द्वारा दिसंबर 1992 के बाबरी-मस्जिद ध्वंस की घटना ने हम पर एक बार फिर जाहिर कर दिया है कि दयानिधान 'राम' का इस्तेमाल रौद्र क्रूरताओं के लिए भी संभव है, यदि उनकी छवि दुष्चलन की बना दी जाए और दुष्ट कौन है।<sup>27</sup>

जाहिर है गांधी के राम, संघ-परिवार के रणोद्धत राम नहीं हैं- वे 'मर्यादा पुरुषोत्तम ही हैं। वैसे अपने-अपने राम तो होते ही हैं, लेकिन ऐसा भी हो सकता है कि कुछ लोगों के लिए- खासकर मुसलमानों का राम से जुड़ाव उतना आसन नहीं हो, नैसर्गिक तो एकदम नहीं। ऐसी स्थिति में अलगाव का होना ज्यादा तर्कसंगत लगता है। गांधी विश्वास-बहुल भारतीय समाज में अंतर के इस तत्व से अपरिचित नहीं हैं। उनका प्रसिद्ध वाक्य- 'खिलाफत हिंदुओं की गाय है'- इस अंतर की पहचान का प्रमाण है। पर शब्दों के सामाजिक संदर्भ होते हैं, उनके खास समाज-विशिष्ट ध्वन्यार्थ होते हैं। अब 'गाय' और 'गो-रक्षा' को ही ले लें। यह शब्द उतना आसन नहीं है जितना कि गाय से जुड़ी साधारण छवि। गाय का एक गांधी-पूर्व संदर्भ भी है। उत्तर भारत के कई इलाकों में 19वीं सदी के आखिरी दो दशकों से गाय के इर्द-गिर्द गौरक्षिणी सभाओं के अभियान और हिंदू-मुस्लिम दंगों का इतिहास है। ऐसे संघर्षप्रद मुद्दों का सामाजिक अर्थ गांधी द्वारा प्रयुक्त कर लेने भर से निर्दोष, निष्कलुष या निरपेक्ष नहीं हो जाता। अतः इस संदर्भ में राष्ट्र के लिए लामबंदी हेतु गांधी का खास किस्म के प्रतीक-चयन और प्रतीक-संयोजन के निषेधात्मक पक्षों पर हाल के इतिहासकारों का मत महज अनुमानात्मक नहीं है।

गांधी को इस तरह की आलोचनाओं का अंदेशा है। अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए वे कहते

हैं कि धर्म, राजनीति, समाज ये सब एक दूसरे से अलग-थलग खाने नहीं हैं- 'एक की दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है।' साथ ही उनका दृढ़ विश्वास है, 'हिंदू, मुसलमानों की एक बहुत बड़ी संख्या इस युद्ध को धार्मिक समझकर इसमें शामिल हुई है। जनता इसमें इसलिए शरीक हुई है कि वे खिलाफत और गाय की रक्षा करना चाहती है। मुसलमानों को खिलाफत की सहयोग की आशा से वंचित कर दीजिए, बस वे कांग्रेस के पास भी नहीं फटकेंगे। हिंदुओं से कहिए कि आप कांग्रेस में रहकर गो-रक्षा नहीं कर सकते- एक भी हिंदू उसमें न टिकेगा।'<sup>28</sup>

स्वराज्य और खिलाफत आदि पर हँसने वालों का जबाब देते हुए यहां गांधी लगभग मजबूर से दीखते हैं। मानो कह रहे हों, 'मैं क्या करूँ, हमारी जनता ही ऐसी धार्मिक है कि वह हर चीज को धार्मिक चश्मे से ही देखेगी। अतः धार्मिक प्रतीक अनिवार्य है।'

यहां एक टेढ़ा प्रश्न पैदा हो जाता है कि भारतीय जनता ही धार्मिक है अथवा गांधी अपनी ही विश्व-दृष्टि का सामान्यीकरण कर रहे हैं, उसे जनता पर थोप रहे हैं? इस दुविधाजनक प्रश्न का महत्व है, चूंकि इस खंड में गांधी इसी किस्म का सामान्यीकरण करते हैं, 'न ही कोई चौरी-चौरा के पागल लोगों का अनुसरण करेगा। यह हिंदुस्तान का स्वभाव नहीं है, यह तो रोग है। टर्की की बात अलग है; वहां मुस्तफा कमाल पाशा की तलवार चलती है क्योंकि प्रत्येक तुर्क की रग-रग में ताकत है। तुर्क सैकड़ों वर्षों से लड़ते चले आ रहे हैं। हिंदुस्तान की जनता हजारों वर्षों से शांत रही है।'<sup>29</sup>

बहुत नरमी से कहा जाए तो यह वक्तव्य अनैतिहासिक है- 'हिंदुस्तान' और 'तुर्की' स्वभाव के बारे में हैरतंगेज सरलीकरण! और प्राच्यवादी (Orientalist) विमर्श<sup>30</sup> के कोरे उलट की तलाश में प्राच्यवाद का ही शिकार! इस तरह हमारा प्रश्न- भारतीय जनता स्वभावतः धार्मिक है या गांधी ऐसा मान लेते हैं- और पेचीदा हो जाता है। भारतीय जनता 'स्वभावतः धार्मिक' थी या नहीं, कहा नहीं जा सकता, लेकिन गांधी की विश्वदृष्टि में धर्म का केंद्रीय महत्त्व है, यह असंदिग्ध है। इस खंड में धर्म की नैसर्गिक अच्छाई को बार-बार रेखांकित किया गया है (जैसे मुसलमान संस्कृति सार-रूप में धार्मिक संस्कृति है, अतएव गरीबों के लिए कल्याणकर है)।<sup>31</sup>

लेकिन व्यावहारिक राजनीतिक रंगमंच पर तो धर्म हर तरह के नाटक खेलकर गांधी को हैरत में डाल देता है। ज्ञानेंद्र पांडेय ने गांधी के ऐसे ही ऊहापोह के क्षण का विश्लेषण किया है। राष्ट्रवादी लामबंदी के लिए समुदाय को अपरिहार्य मानने वाले गांधी, सांप्रदायिक दंगों की स्थिति में राष्ट्र और समुदाय (धर्म-आधारित) में एक तारतम्यता तय करते हुए देखे जा सकते हैं :

बहादुर 'अली, बंधु दृढ़ राष्ट्रप्रेमी हैं, लेकिन पहले वे मुसलमान हैं और बाद में कुछ और।

21 सितंबर 1921

राष्ट्रीयता, सांप्रदायिकता से बड़ी चीज है। इस मानी में हम लोग पहले भारतीय हैं और पीछे हिंदू, मुसलमान, पारसी और ईसाई हैं।

26 जनवरी 1922,<sup>32</sup>

ज्ञानेंद्र पांडेय इन दो उक्तियों में विरोध दर्ज करते हैं, जो सही है। पर, इस खंड से एक और उद्धरण प्रस्तुत किया जा सकता है यह साबित करने के लिए कि मापला विद्रोह का प्रभाव गांधी पर चिरस्थायी नहीं रहा। एक प्रसंग में तो वे यह कहते हैं, 'यदि कोई मुसलमान हिंदू के ऊपर या हिंदू मुसलमान के ऊपर अत्याचार करता है। वह अत्याचार एक भारतीय द्वारा दूसरे भारतीय पर

समझना चाहिए।<sup>33</sup> लेकिन दूसरे प्रसंग में वे अपनी मूल स्थिति को उचित ठहराते हुए यह कहते हैं, 'जब मैं यह कहता हूँ कि मैं अपने देश से अधिक अपने धर्म को महत्व देता हूँ और इसलिए मैं पहले एक हिंदू हूँ और बाद में राष्ट्रवादी तो एक माने में निश्चय ही यह कथन सत्य है लेकिन केवल इसी कारण मैं किसी सर्वश्रेष्ठ राष्ट्रवादी से कम राष्ट्रवादी नहीं हो जाता। इससे मेरा अभिप्राय केवल यह है कि मेरे देश के हित मेरे धर्म के हितों के अनुरूप है।'<sup>34</sup>

निष्कर्ष यह कि धर्म पहले या देश की दुविधा गांधी की स्थायी दुविधा नहीं है और इस दुविधा का समाधान वे विलक्षण ढंग से करते हैं जहां देश और धर्म- कम से कम उनके देश और उनके धर्म- में कोई विरोधाभास नहीं रह जाता। यहां गांधीवादी शैली की आम खासियत एक बार फिर स्पष्ट हो जाता है और यह खासियत है किसी एक शब्द को उठाकर उसे भानुमती का पिटारा बना देना- एक-एक शब्द जैसे अर्थों का भंडार हो, अपनी श्रद्धा और सुविधा के मुताबिक जो जंचे लेते जाइए। 'स्वराज्य' और 'रामराज्य' का सर्वग्राहीपन हम ऊपर देख चुके हैं। उसी तरह वे चरखे को एक जगह कर्मयोग<sup>35</sup> बताते हैं तो दूसरी जगह कामधेनु<sup>36</sup> और धर्म तो खैर 'इनसाइक्लोपीडिया' है ही- लगभग उसी तरह का जैसा कि मार्क्स के अनुसार पूंजीवाद के पूर्व योरोप में।

अतः बात चाहे राजनीतिक समुदाय को रचने का हो या अछूतोद्धार की या फिर महिला मुक्ति की- बात कहीं से भी शुरू हो उसे खत्म धर्म पर ही होना है। राष्ट्रीय आंदोलन में महिलाओं के प्रवेश में गांधी के प्रोत्साहन और उसकी सफलता सर्वविदित है। वे महिलाओं को इस शांतिपूर्ण संघर्ष में पुरुषों से भी बेहतर शांति सैनिक मानते हैं, 'वे अपनी धार्मिक निष्ठा में पुरुषों से भी बढ़कर हैं, नारी जाति मूक तथा गंभीर सहिष्णुता की प्रतीक हैं।'<sup>37</sup> इन तथाकथित गुणों के अलावा गांधी पवित्रता एवं सतीत्व का भी आदर्शिकरण करते हैं। पवित्रता का प्रश्न स्त्रियों द्वारा समाज के सार्वजनिक हलकों में आगमन के पश्चात थोड़ा मुश्किल बन जाता है और गांधी को स्त्रियों की पवित्रता को लेकर उठी शंकाओं का समाधान करना पड़ता है, 'जिस स्त्री को अपनी पवित्रता का ख्याल है उस पर बलात्कार करने वाला पुरुष न आज तक पैदा हुआ है और न होगा ही। यहां यह बात सच है कि प्रत्येक स्त्री में इतनी पवित्रता का योगबल नहीं है।'<sup>38</sup> हालांकि वे इस स्थिति के लिए पुरुषों के द्वारा दी गई कुशिक्षा को ही जिम्मेदार ठहराते हैं, लेकिन अंततः उनका समाधान ईश्वर की प्रार्थना से उपजे तेज में है। इसी संदर्भ में वे कहते हैं, 'स्त्री में अपनी रक्षा की पर्याप्त शक्ति है। जो स्त्री दुःख के समय भगवान को याद करेगी उसकी रक्षा वह अवश्य करेगा। जो स्त्री मरने के लिए तैयार है, उसे कोई दुष्ट एक शब्द भी कह सकता है? उसकी आंखों में इतना तेज होगा कि उसको देख कर सामने खड़े व्यभिचारी पुरुष के होश गुम हो जाएंगे।'<sup>39</sup>

लेकिन अगर इस तरह का हादसा हो जाए तो? अद्भुत गांधीवादी समाधान प्रस्तुत है, 'जब कोई पुरुष किसी स्त्री को अपवित्र करने का प्रयत्न करता है तो दोनों को आत्म-हत्या कर लेने का हक है- इतना ही नहीं, तब आत्मघात करना दोनों का कर्तव्य है।'<sup>40</sup>

स्पष्ट है कि स्त्री-पुरुष संबंधों में भी गांधी को सत्ता के खेल की पहचान नहीं, पुरुषवादी समाज, पितृसत्तात्मक वर्चस्व का छोटा-सा संकेत भी यहां नहीं मिलता। गांधी सिर्फ महिलाओं के बलिदान, सहिष्णुता एवं पवित्रता के सद्गुणों का उदात्तीकरण करते हैं, जो शक्ति के लिए संघर्षरत आज की नारीवादियों को अतार्किक और अपच लगे। कुल मिलाकर गांधी में धर्म की सत्ता सर्वोच्च है। हालांकि

यह गांधी का अपना धर्म है। अपने निष्कर्षों के समक्ष वे शास्त्रीय संदर्भों को भी चुनौती दे सकते हैं, लेकिन चुनौती देने के लिए जो बिंब-विधान रचेंगे, वह भी धर्म के अंदर से ही आएगा- विशेष कर तथाकथित हिंदू धार्मिक परंपरा से। आश्चर्य की बात नहीं कि मुस्लिम लीग के नेताओं को गांधी को हिंदुओं का नेता सिद्ध करने में सफलता मिलती है और दूसरी ओर कट्टर हिंदूवादी, गांधी के वर्चस्व काल में ज्यादा फल-फूल नहीं पाते।

हालांकि किसी एक खंड की सामग्री के आधार पर इस तरह का सामान्यीकरण शायद अनुचित हो, लेकिन यह पाठ (Text) ऐसे चिंतन के लिए प्रस्थान बिंदु तो हो ही सकता है।

#### संदर्भ

1. रेणु, फणीश्वरनाथ, 'मैला आंचल', दिल्ली, 1954, एवं रजा, राही मासूम कृत 'आधा गांव', दिल्ली, 1966।
2. इस संकलन में गांधी के 15 दिसंबर से 3 मार्च तक के लेखन और अंतर्वीक्षा को संकलित किया गया है।
3. भूमिका, संपूर्ण गांधी वाङ्मय, खंड 22, पृष्ठ 5। चौरी-चौरा के वैकल्पिक मायने भी हैं। इस विषय पर महत्वपूर्ण हस्तक्षेप के लिए देखें, अमीन शहीद, 'इवेंट, मेटाफर, मेमोर, चौरी-चौरा, 1922-23, ऑ.यू.प्रे. 1995।
4. देखें, सरकार, सुमित, आधुनिक भारत।
5. यह प्रवृत्ति इसी रूप में राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन का भी धर्म हो जाता है। देखें, अमीन, शहीद, 'एंग्रेरियन बेसेस ऑफ नैशनलिस्ट एजिटेशन इन इंडिया : एन हिस्टोरियोग्राफिकल सर्वे।' यह लेख लो, डी.ए संपादित पुस्तक 'दि इंडियन नैशनल कांग्रेस; सेंटेनरी हाइंडसाईट, दिल्ली, 1986 में संकलित है।
6. संपूर्ण गांधी वाङ्मय, खंड 22, पृष्ठ 278।
7. वही, पृष्ठ 172।
8. देखें, चटर्जी, पार्था, नैशनलिस्ट थॉट एंड दि कोलोनियल वर्ल्ड।
9. संपूर्ण गांधी वाङ्मय, खंड 22, पृष्ठ 53।
10. वही, पृष्ठ 199।
11. वही, पृष्ठ 287, 301।
12. देखें, सरकार, तनिका, 'इमैजिनिंग हिंदू राष्ट्र : द हिंदू एंड द मुस्लिम इन बंकिम चंद्र'स राइटिंग्स', यह लेख लडेन डेविड संपादित 'मेकिंग इंडिया हिंदू' में संकलित है।
13. संपूर्ण गांधी वाङ्मय, खंड 22, पृष्ठ 307।
14. देखें, चटर्जी, पार्था, नैशनलिस्ट थॉट एंड दि कोलोनियल वर्ल्ड, पृष्ठ 94-95।
15. संपूर्ण गांधी वाङ्मय, खंड 22, पृष्ठ 301।
16. वही, पृष्ठ 306।
17. वही, पृष्ठ 307।
18. वही, पृष्ठ 289।
19. वही, पृष्ठ 289।

20. वही, पृष्ठ 289 ।
21. वही, पृष्ठ 124 ।
22. वही, पृष्ठ 124 ।
23. वही, पृष्ठ 331 ।
24. वही, पृष्ठ 484 ।
25. वही, पृष्ठ 184 ।
26. देखें, विपिन चंद्रा, कम्प्युनलिज्म इन मॉडर्न इंडिया', तथा पांडेय, ज्ञानेंद्र, कंस्ट्रक्शन ऑफ कम्प्युनलिज्म इन कोलोनियल नार्थ इंडिया ।
27. देखें, बासु तपन आदि, खाकी शॉर्ट्स, सैफरन फलैग्स, ओरिएण्टल लौंगमैन, नई दिल्ली, 1993 ।
28. संपूर्ण गांधी वाङ्मय, खंड 22, पृष्ठ 516 ।
29. वही, पृष्ठ 449 ।
30. प्राच्यवादी विमर्श हेतु देखें, सर्द एडवर्ड कृत, 'ओरिएण्टलिज्म' ।
31. संपूर्ण गांधी वाङ्मय, खंड 22, पृष्ठ 484 ।
32. पांडेय, ज्ञानेंद्र, कंस्ट्रक्शन ऑफ कम्प्युनलिज्म इन कोलोनियल नार्थ इंडिया, पृष्ठ 233 ।
33. संपूर्ण गांधी वाङ्मय, खंड 22, पृष्ठ 283 ।
34. वही, पृष्ठ 487 ।
35. वही, पृष्ठ 459 ।
36. वही, पृष्ठ 194 ।
37. वही, पृष्ठ 23 ।
38. वही, पृष्ठ 198 ।
39. वही, पृष्ठ 199 ।
40. वही, पृष्ठ 199 ।

# भाषा, साहित्य और हिंदी सिनेमा

---

## साकेत कुमार सहाय

आधुनिक हिंदी साहित्य को समृद्धशाली बनाने में अपना अहम् योगदान देने वाले आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के कथनों के अनुसार 'साहित्य समाज का दर्पण है' और सिनेमा भी समाज की मनोभावनाओं को एक अलग तरीके से ही चित्रित करता है। साहित्य और सिनेमा ऐसे माध्यम हैं जिसमें समाज को बदलने की ताकत सबसे अधिक होती है। कहना गलत न होगा कि सिनेमा, साहित्य से अधिक प्रभावशाली और आम जनता तक सरलता से पहुंचने वाला माध्यम है। साहित्य, सिनेमा में रूपांतरित होकर उन लोगों से भी संवाद करता है जहां साहित्य का मर्म ही नहीं पहुंच पाता। साहित्य के चिंतक, लेखक, और आलोचक सिनेमा को साहित्य का हिस्सा मानने से हमेशा हिचकते रहें हैं, यह जानते हुए भी कि सिनेमा का आरंभ ही साहित्य से होता है। जिसके कई पक्ष हैं जिस पर हम आगे के उद्धरणों में चर्चा करेंगे।

एक प्रकार से देखें तो समाज, साहित्य और सिनेमा के बीच की धुरी है। एक तरफ समाज इनसे प्रभावित होता है तो दूसरी ओर समाज से प्रभावित होकर ही साहित्य और सिनेमा का जन्म होता है। साहित्य और सिनेमा कहीं न कहीं हमेशा ही एक दूसरे के विस्तार में सहयोग करते रहें हैं। कहना सर्वथा उचित ही होगा कि साहित्य और सिनेमा एक दूसरे के पूरक हैं।

सिनेमा में प्रारंभिक दौर से ही प्रयोग के साथ-साथ साहित्य का असर भी प्रभावी बना रहा। चर्चित उपन्यासों और कालजयी रचनाओं पर आधारित फिल्मों हर दौर में पसंद की जाती रही हैं। यही वजह है कि निर्देशक, निर्माता उपन्यासों को टटोलना और उन पर फिल्म बनाना पसंद करते हैं। यह सही भी है इससे वे दर्शक जिन्हें साहित्य की रचनाओं का ज्ञान नहीं है उन्हें भी इसकी जानकारी मिल जाती है। इसके अलावा वे दर्शक जो हमेशा से उपन्यासों को पढ़ना पसंद करते हैं वे बड़े पर्दे पर उस पर आधारित फिल्में देखकर गौरवान्वित होते हैं।

साहित्य और सिनेमा के इस परस्पर संबंध को हिंदी सिनेमा ने प्रारब्ध से ही यथार्थ रूप प्रदान किया है। ऐसे में हम यह कह सकते हैं कि भले ही साहित्य एवं सिनेमा दो पृथक विधाएं हैं परंतु दोनों का पारस्परिक संबंध बहुत ही गहरा है। यही कारण है कि जब कहानी पर आधारित फिल्में बनने की शुरुआत हुई तो इनका आधार साहित्य ही बना। भारत में बनने वाली पहली फीचर फिल्म भी आधुनिक हिंदी साहित्य के जनक 'भारतेंदु हरिश्चंद्र' के नाटक 'हरिश्चंद्र' पर आधारित थी। प्रारंभ से ही हिंदी सिनेमा में लिखित व अलिखित साहित्य की भूमिका महत्वपूर्ण रही। प्रस्तुत आलेख में



हम इसे विस्तार से समझने का प्रयास करेंगे।

### हिंदी साहित्य एवं सिनेमा

आधुनिक हिंदी साहित्य और हिंदी सिनेमा के सफर में बमुश्किल आधी शती का अंतर है। अर्थात् दोनों ने अपने सफर की शुरुआत ब्रिटिश दासता के दिनों में की थी। और, उस समय का काल पराधीनता के कारण सामाजिक, आर्थिक पराभव का था। अतः दोनों ने उस समय अपनी रचनाओं, कृतियों में सामाजिक कर्तव्यबोध और राष्ट्रवादी आंदोलन को स्वर देने के कर्तव्यबोध को अंगीकार करने पर जोर दिया था। हिंदी सिनेमा में साहित्य का प्रवेश कमोवेश इसी कर्तव्यबोध से परिचालित हुआ। भारतीय सिनेमा के पितामह दादा साहेब फाल्के खुद स्वदेशी आंदोलन के प्रभाव में थे। भारत में बनने वाली पहली फीचर फिल्म दादा साहेब फाल्के ने बनाई जो भारतेंदु हरिश्चंद्र के नाटक 'हरिश्चंद्र' पर आधारित थी।

आज भारत में फिल्मों ने 100 से ज्यादा वर्षों की यात्रा सफलतापूर्वक पूरी कर ली है। दरअसल सिनेमा भारत में अपने दौर का सबसे बड़ा चमत्कार था। इस सिनेमा में एक अजीब तरह का सम्मोहन था। जिसने भारत की कल्पनाशील जनता में दिन में भी सपने देखने के लिए एक आभासी मंच प्रदान किया और इस मंच में सब कुछ था। भारत जैसे बहुभाषी और बहु-सांस्कृतिक परंपरा वाले देश में इसकी व्यापक पहुंच ने इसे लोगों के मनोरंजन का सर्वाधिक लोकप्रिय माध्यम बना दिया है और इसमें हिंदी का व्यापक योगदान है। 1931 में पहली बोलती फिल्म 'आलम आरा' से आज तक सर्वाधिक फिल्में हिंदी भाषा में ही बनाई गई हैं। इस तरह हिंदी भारत ही नहीं भारत के मुख्य सिनेमा की भी भाषा है। विश्व में हिंदी सिनेमा ही भारतीय सिनेमा का प्रतिनिधित्व करता है।

पहली बोलती फिल्म 'आलम आरा' से लेकर आज तक सर्वाधिक फिल्में हिंदी भाषा में ही बनाई गई हैं। आंकड़ों के मुताबिक, भारत में पच्चीस से अधिक भाषाओं में फिल्में बनती हैं जिनमें एक चौथाई से अधिक फिल्में हिंदी की होती हैं। इनके दर्शक संपूर्ण विश्व में फैले हुए हैं और यही दर्शक वर्ग हिंदी की सार्वभौमिक पहुंच को मजबूती प्रदान करता है जिससे हिंदी की पहुंच अखिल भारतीय होने के साथ-साथ अंतरराष्ट्रीय स्तर तक भी होती है।

अक्सर जब हम हिंदी सिनेमा में साहित्य के योगदान की बात करते हैं तो इसे लिखित साहित्य से जोड़ देते हैं जबकि साहित्य चाहे लिखित हो या अलिखित वह हमेशा से समाज को प्रभावित करता रहा है और, उस कृति का सिनेमाई रूपांतरण तो इसे नई संचारात्मक और संप्रेषण शक्ति प्रदान करता है। इस कारण से निरक्षर लोग और गैर-भाषाई लोगों तक भी साहित्य की पहुंच हो जाती है। साहित्य-संरचना का मूलाधार भाषा है। यही साहित्य जब फिल्मी पर्दे पर आता है तो दृश्य उसके केंद्र में होता है। वैसे भी भाषाओं का भूगोल सीमित और दृश्यों का व्यापक होता है। उदाहरणवश कई सफल व चर्चित फिल्मों के नाम गिनाए जा सकते हैं। स्व. आर.के. नारायण के उपन्यास 'गाइड' पर देव आनंद के भाई विजय आनंद द्वारा निर्देशित फिल्म 'गाइड' का नाम लिया जा सकता है। वर्ष 1965 में बनी इस फिल्म में देव आनंद और वहीदा रहमान मुख्य भूमिका में थे। कई अवॉर्ड जीतने वाली यह फिल्म हिंदी फिल्म इंडस्ट्री की बेहतरीन फिल्मों में से एक है। फिल्म में देव आनंद राजू गाइड की भूमिका में थे, वहीं वहीदा रहमान एक कुशल नर्तकी और पति द्वारा उपेक्षित महिला रोजी का किरदार अदा कर रही थीं। इस फिल्म ने अंग्रेजी साहित्यकार स्व. आर.के. नारायण की रचना

को अमर कर दिया। इसके अलावा, 1962 में आई फिल्म 'साहिब बीबी और गुलाम' बंगाली लेखक बिमल मित्रा के उपन्यास पर आधारित 'साहिब बीबी और गुलाम' का नाम लिया जा सकता है। कोलकाता के जमींदार पृष्ठभूमि पर आधारित इस फिल्म को बेहद पसंद किया गया था। फिल्म के लिए मीना कुमारी को सर्वश्रेष्ठ अभिनेत्री का फिल्मफेयर पुरस्कार भी प्रदान किया गया था। साथ ही वर्ष 1968 में बनी गोवर्धनराम माधवराम त्रिपाठी द्वारा लिखित गुजराती उपन्यास 'सरस्वतीचंद्र' का नाम लिया जा सकता है। इस फिल्म में नूतन के साथ मनीष प्रमुख भूमिका में थे। इस फिल्म का विषय जागीरदारी प्रथा पर बेस्ट था। इस फिल्म को संगीत एवं सिनेमेटोग्राफी के लिए राष्ट्रीय पुरस्कार भी मिला था। इसके अलावा, लेखक रस्किन बॉन्ड की फिक्शनल किताब 'अ फ्लॉइट ऑफ पीजंस' पर बेस्ट श्याम बेनेगल द्वारा निर्देशित 'जुनून' का भी नाम लिया जा सकता है। शरतचंद्र चट्टोपाध्याय के उपन्यास 'मेजदीदी' पर आधारित महान फिल्मकार दादा साहब फाल्के पुरस्कार से सम्मानित स्व. ऋषिकेश मुखर्जी द्वारा निर्देशित फिल्म 'मञ्जली दीदी' का नाम लिया जा सकता है। जानी-मानी लेखिका अमृता प्रीतम के उपन्यास 'पिंजर' पर चंद्र प्रकाश द्विवेदी के निर्देशन में 'पिंजर' नाम से ही फिल्म बनी। बंटवारे के दौरान हुए सामाजिक उथल-पुथल, प्यार और नफरत पर आधारित इस फिल्म को बेहद पसंद किया गया था। वर्ष 2003 में बनी इस फिल्म को तीन भाषाओं हिंदी, उर्दू और पंजाबी में बनाया गया।

उपर्युक्त उदाहरणों से समझा जा सकता है कि हिंदी फिल्मकारों ने प्रारंभ से ही इस तथ्य को समझा। प्रारंभ में बोलती फिल्मों का शुरुआती दौर पारसी थिएटर की विरासत भर था, जिसमें अति नाटकीयता और गीत-संगीत का ज्यादा समावेश था पर, समय के साथ विषयों के चयन में विविधता आने लगी और फिल्म बनाने वालों ने स्थापित लेखकों और उनकी कृतियों को स्थान देना शुरू किया। इस दौरान हिंदी की साहित्यिक कृतियों पर ढेरों फिल्में बनीं।

हिंदी सिनेमा में कथा सम्राट मुंशी प्रेमचंद की कहानियों द्वारा इसकी नींव रखी गई। वर्ष 1933 में हिंदी के सर्वाधिक लोकप्रिय साहित्यकार प्रेमचंद की कहानी पर मोहन भावनानी के निर्देशन में फिल्म 'मिल मजदूर' बनी। निर्देशक ने मूल कहानी में कुछ बदलाव किए जो प्रेमचंदजी को पसंद नहीं आए। 1934 में प्रेमचंद की ही कृतियों पर 'नवजीवन' और 'सेवासदन' बनीं लेकिन दोनों फिल्में फ्लॉप हो गईं। 1941 में ए.आर. कारदार ने प्रेमचंद की कहानी 'त्रिया चरित्र' को आधार बनाकर 'स्वामी' नाम की फिल्म बनाई जो चली नहीं। यही हाल 1946 में प्रेमचंद के उपन्यास 'रंगभूमि' पर इसी नाम से बनी फिल्म का हुआ। प्रेमचंदजी की मृत्यु के काफी समय बाद बाद उनकी तीन कहानियों पर फिल्में बनीं लेकिन चर्चित हो सकी महान फिल्मकार सत्यजित राय द्वारा बनाई गई पहली हिंदी फिल्म 'शतरंज के खिलाड़ी'।

इसी दौर में, उपेंद्रनाथ अशक, अमृतलाल नागर, भगवती चरण वर्मा और पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' आदि लेखकगण भी फिल्मों में हाथ आजमाने पहुंच चुके थे। वर्ष 1941 में भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'चित्रलेखा' पर केदार शर्मा ने इसी नाम से फिल्म बनाई और फिल्म सफल भी रही। कथाकार अमृतलाल नागर भी फिल्म निर्माताओं एवं निर्देशकों की मांग के मुताबिक पटकथा और संवाद लिखकर कुछ समय तक मुंबई में टिके रहे। 1960 में चंद्रधर शर्मा गुलेरी की कहानी 'उसने कहा था', आचार्य चतुरसेन शास्त्री के उपन्यास पर 'धर्मपुत्र' नाम से तथा फणीश्वरनाथ रेणु की

कहानी 'मारे गए गुलफाम' पर 'तीसरी कसम' बनी और ये तीनों फिल्मों बड़े फिल्मकारों के नाम के बावजूद बुरी तरह असफल रहीं।

हिंदी सिनेमा में हिंदी साहित्यकारों का सुनहरा दौर सातवें दशक में नजर आता है। जिसमें उपन्यासकार कमलेश्वर का महत्वपूर्ण योगदान है। उपेंद्रनाथ अशक और अमृतलाल नागर के बाद कमलेश्वर ही वह महत्वपूर्ण हिंदी साहित्यकार थे जिन्होंने सिनेमा की भाषा और जरूरत को बेहतर ढंग से समझा। टेलीविजन से शुरुआत कर उन्होंने सिनेमा में दखल दिया और लंबे समय तक टिके रहे। फिल्मकार गुलजार ने कमलेश्वर की कृति पर 'आंधी' और 'मौसम' बनाई तो दोनों फिल्मों मील का पत्थर साबित हुईं। आम दर्शक और बौद्धिक वर्ग दोनों ने इन फिल्मों को सराहा।

सातवें दशक में जहां एक ओर हिंदी कथा-साहित्य में बदलाव आ रहा था वहीं हिंदी भाषी फिल्मकारों की संख्या भी बढ़ रही थी। फिल्मकार बासु चटर्जी बांग्लाभाषी थे लेकिन उन्होंने हिंदी साहित्य का गहरा अध्ययन किया था। उन्होंने प्रसिद्ध लेखिका मन्नू भंडारी की कहानी 'यही सच है' पर 'रजनीगंधा' फिल्म बनाई जो काफी लोकप्रिय साबित हुई। हिंदी साहित्य की कृतियों पर उस दौर में कुछ और भी फिल्में बनीं। हिंदी फिल्मों की इस नई धारा को समानांतर सिनेमा भी कहा गया। साहित्य से इसका संबंध ईमानदार रहा, भले ही कुछ लेखक अपनी कृति के दृश्यों में ढले रूप से संतुष्ट न रहे हों।

समानांतर सिनेमा के इसी दौर में हिंदी साहित्य को सबसे ज्यादा महत्त्व और निष्ठाभरी समझ फिल्मकार मणि कौल ने दी। अपने अंदाज में ही मणि कौल ने बाद में 'आषाढ़ का एक दिन' (मोहन राकेश), 'दुविधा' (विजयदान देथा), 'सतह से उठता आदमी' (मुक्तिबोध) और 'नौकर की कमीज' (विनोद कुमार शुक्ल) फिल्में बनाईं। इसी दौर में कुमार शहानी ने निर्मल वर्मा की कहानी 'माया दर्पण' पर फिल्म बनाई। इसके अलावा दामुल (कबूतर) : शैवाल/प्रकाश झा; परिणति: विजयदान देथा/प्रकाश झा; पतंग: संजय सहाय/गौतम घोष; सूरज का सातवां घोड़ा : धर्मवीर भारती/श्याम बेनेगल; कोख (किराए की कोख) : आलमशाह खान/आरएस विकल; खरगोश : प्रियंवद/परेश कामदार जैसी फिल्मों में भी कथा के निरूपण की दृष्टि से बेहतर फिल्में थीं।

हिंदी की साहित्यिक कृतियों पर फिल्मों ना बनने का शोर साठ के दशक में सरकारी वर्ग तक भी पहुंचा। फिल्म वित्त निगम ने आगे-बढ़कर सरकारी खर्च पर अनेक ख्याति प्राप्त साहित्यकारों की कृतियों पर फिल्मों का निर्माण कराया परंतु, इनमें से अधिकांश फिल्मों अपनी नीरसता के कारण असफल रहीं।

साहित्य और सिनेमा के रिश्ते को जोड़े रखने में दूरदर्शन की बड़ी भूमिका रही है। इसमें 'तमस' (भीष्म साहनी/गोविंद निहलानी), 'चंद्रकांता' (देवकीनंदन खत्री), 'निर्मला' (प्रेमचंद), 'राग दरबारी' (श्रीलाल शुक्ल), 'कब तक पुकारूँ' (रांगेय राघव), 'मुझे चांद चाहिए' (सुरेंद्र वर्मा), 'नेताजी कहिन' (कक्काजी कहिन, मनोहर श्याम जोशी) धारावाहिकों के नाम उल्लेखनीय हैं।

बाद के दशकों में हिंदी फिल्मों की दुनिया में एंग्री यंग मैन अमिताभ बच्चन, मिथुन चक्रवर्ती, अनिल कपूर, जैकी श्राफ, खान त्रयी अभिनेताओं का प्रवेश हुआ। इस दौर में अधिकांश हिंदी फिल्मों भारी हिंसा और घटिया कहानी पर आधारित होती थीं और यह दौर छिटपुट अच्छी कथानक वाली फिल्मों को छोड़ दें तो वर्तमान में भी जारी है।

इस दौर में मनोरंजक विदेशी फिल्मों एवं दक्षिण भारतीय फिल्मों की हू-ब-हू नकलकर काफी फिल्में बनाई गईं। वर्तमान दौर में भी मूल कथ्य वाली या साहित्यिक परिवेश पर आधारित अच्छी फिल्में काफी कम बन रही हैं। कला फिल्मों के नाम पर कुछ साहित्यिक कृतियों पर फिल्में जरूर बनीं लेकिन आम दर्शक को ये फिल्में छू भी ना सकीं।

हिंदी फिल्मों का वर्तमान परिदृश्य काफी बदल चुका है। अब हर तरह की फिल्में बन रही हैं। आज साहित्यिक कृतियों पर फिल्म बनाने की समझ रखने वाले युवा हिंदी भाषी फिल्मकारों की कमी नहीं है लेकिन फिलहाल हिंदी फिल्में पत्रकारिता, वर्तमान परिदृश्य से अधिक फायदा उठा रही हैं। अभी जोर बायोग्राफिकल फिल्में बनाने पर अधिक है। क्रिकेटर मोहम्मद अजहरुद्दीन, फ्लाइंग सिख मिल्खा सिंह, मुक्केबाज मैरीकोम, क्रिकेटर महेंद्रसिंह धोनी इत्यादि के जीवन पर आधारित फिल्में या महिलाओं के प्रति समाज की रूढ़िवादी सोच पर आधारित 'पिंक' जैसी फिल्म इसका उदाहरण है।

नए दौर में साहित्यिक कहानियों को नवोन्मेषी रूप में दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत करने का कार्य फिल्मकार विशाल भारद्वाज की फिल्मों द्वारा किया गया है। निर्देशक विशाल भारद्वाज की ज्यादातर फिल्में अंग्रेजी उपन्यास पर आधारित रहीं। इनमें शेक्सपीयर और रस्किन बॉन्ड के उपन्यासों का नाम लिया जा सकता है। विशाल भारद्वाज की फिल्म 'मकबूल' शेक्सपीयर के नाटक मैकबेथ पर आधारित थी; वहीं 'ओंकारा', ऑथेलो पर आधारित थी तथा 'हैदर', हेमलेट पर आधारित थी। इसी तरह फिल्म 'सात खून माफ' रस्किन बॉन्ड की कहानी सुजैनास सेवेन हर्बैंड पर आधारित थी। इसके अलावा, चेतन भगत के उपन्यास पर भी कई हिंदी फिल्में बनाई गईं जो काफी सफल रहीं। लेखक चेतन भगत के उपन्यासों को हिंदी फिल्म निर्माता-निर्देशकों ने फिल्मों के जरिए खूब भुनाने की कोशिश की। 'फाइव पॉइंट समवन' पर आधारित 'श्री इडियट्स', 'श्री मिस्टेक्स ऑफ माय लाइफ' पर आधारित 'काय पो चे', 'वन नाइट ऐट कॉलसेंटर' पर आधारित फिल्म 'हैलो' और 'टू स्टेट्स' पर आधारित फिल्म बन चुकी है।

इस प्रकार हिंदी सिनेमा में हिंदी साहित्य के साथ ही अन्य भाषायी साहित्यों पर फिल्में बनीं हैं जिनका सफर बहुत आसान नहीं रहा। व्यवसाय के हिसाब से इनमें से अधिकांश फिल्में असफल साबित हुईं। पर यह सत्य है कि हिंदी की मूल साहित्यिक कृतियों पर बनी फिल्में बहुत कम सफल हो पाई हैं। जिसके पीछे कई कारण हो सकते हैं। साहित्य पर बनी गंभीर और ईमानदार फिल्म दृश्यों, ध्वनियों, रंगों और प्रकाश के आयामों में एक कृति को समझने की कोशिश होती है। जैसे पाठक रचना से हजार अर्थ लेकर बाहर निकलते हैं, एक फिल्मकार भी एक श्रेष्ठ कृति का अपना पाठ प्रस्तुत करता है। इस तरह वह किसी रचना की पुनर्रचना भी करता है, जो अपने में बड़ा काम है। यही कारण है कि हिंदी में सौ वर्षों में साहित्यिक कृतियों पर सौ फिल्में भी नहीं बनीं हैं।

मेरे विचार से इसमें सबसे बड़ा कारण कहानी के कथ्य को समझने का अभाव रहा और, दूसरा बड़ा कारण सिनेमा को उपन्यास की भांति पेश करना। फिल्म, शब्दों का दृश्य विधा में 'अनुवाद' नहीं हो सकती। यह फिल्म की विधा को कमतर करके देखने के साथ ही साहित्य को भी कमतर देखने के समान होगा। फिल्मकार रचना को शब्दों के पार ले जाना चाहता है जबकि साहित्य जगत फिल्म में भी साहित्य को जस का तस देखना चाहता है। एक हद तक यह लगभग असंभव अपेक्षा ही है। हम सभी जानते हैं कि भारतीय दर्शक वर्ग हिंदी सिनेमा को उसकी कल्पनाशीलता एवं

रोमांटिसिज्म के कारण ज्यादा पसंद करता है।

अब प्रश्न उठता है कि हिंदी सिनेमा की अखिल भारतीय पहुंच बनाने में हिंदी के साहित्यिक स्वरूप के अलावा इसके कौन-से स्वरूप का ज्यादा योगदान है :

1. राष्ट्रभाषा
2. जनभाषा
3. संपर्क भाषा
4. राजभाषा

तो, सहज जवाब आता है इसका जनभाषा वाला रूप अथवा सभी रूपों के सम्मिश्रण वाला रूप। कारण कि हिंदी सिनेमा की बात आते ही हम सभी के समक्ष वह सिनेमा आता है जिसमें पात्रों की बातचीत भले ही हिंदी में होती है, परंतु यह जरूरी नहीं है कि कहानी का संबंध केवल हिंदी भाषी क्षेत्र से हो और यह भी जरूरी नहीं कि उस फिल्म का निर्माता, निर्देशक, पटकथा लेखक, अभिनेता-अभिनेत्री, संगीतकार आदि भी हिंदी भाषी हों लेकिन उसका मूल रस समरस समाज का होता है। यहां समरस समाज से हमारा मतलब अगर भाषायी दृष्टि से देखें तो उस सर्वग्राह्य हिंदी से है जो बहुसंख्यक प्रदेशों, जातियों को स्वीकार्य हो। यही कारण है कि हिंदी सिनेमा ने भी उसी हिंदी को अपनाया।

हालांकि, कई बार विद्वतजन इस तथ्य को गलत समझते हैं। उनके अनुसार साहित्यिक हिंदी को हिंदी सिनेमा में समुचित स्थान नहीं मिल पाया है। जिसे पूरी तरह से गलत नहीं ठहराया जा सकता है तथा जिसकी चर्चा हमने अपने आलेख के प्रारंभ के उद्धरणों में विस्तार से की है। फिर भी इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता है कि हिंदी सिनेमा ने देश की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक संरचना में व्यापक बदलाव लाया है और इसमें हिंदी के सभी रूपों का योगदान है। इन्हीं तथ्यों की वजह से हिंदी भारत के मुख्यधारा सिनेमा की स्वीकार्य भाषा बन चुकी है जिसमें लिखित व अलिखित कहानियों, कथाओं, लघुकथाओं, साहित्यिक रचनाओं सभी का योगदान है। जिसमें एक सच यह भी है कि हिंदी सिनेमा में साहित्यिक कृतियों पर सबसे कम सफल फिल्में बन पाई हैं। हालांकि, शुरुआती दौर में फिल्मों में विविधता के लिए फिल्मकारों ने साहित्य को स्थान देना शुरू किया। इसी के साथ हिंदी के लेखकों, फिल्मकारों को जगह मिलना भी शुरू हुआ। परंतु साहित्यिक फिल्मों को अपेक्षित सफलता नहीं मिली। जिसके पीछे कई कारण माने जा सकते हैं। साहित्यिक कृतियों पर फिल्म बनाने के पीछे पहली शर्त है निर्माता-निर्देशक का रचना/कृति के मर्म तक पहुंचने के साथ ही लेखक/साहित्यकार के मानसिक बुनावट को भी समझना। तभी, तो फिल्मकार बाजार के दबाव और मनोरंजन की जरूरतों के बीच साहित्यकार की सोच के साथ भी इंसाफ कर पाएगा। तथापि, यह भी सत्य है कि यदि साहित्य को भी लोक पक्ष से जोड़कर फिल्में बनाई जाए तो ये भी सफल होती है। क्योंकि साहित्य का मतलब हमें केवल लिखित साहित्य से नहीं लगाना चाहिए और कई सफल फिल्मों के नाम इस दिशा में लिए भी जा सकते हैं।

हिंदी सिनेमा में हिंदी साहित्य की भूमिका प्रारंभ से रही है चाहे कहानी की हो या पटकथा या गाने की सभी में हिंदी का योगदान रहा है। व्ही. शांताराम, महबूब खान, ख्वाजा अहमद अब्बास, बिमल रॉय, राजकपूर, गुरुदत्त, ऋषिकेश मुखर्जी, बासु चटर्जी, श्याम बेनेगल, चेतन आनंद, गुलजार,

सत्यजीत रॉय, कमाल अमरोही, मुजफ्फर अली जैसे फिल्मकारों ने सामाजिक दृष्टि से सोद्देश्यपूर्ण और कलात्मक दृष्टि से उत्कृष्ट फिल्मों का निर्माण किया। इन फिल्मकारों ने इस बात का ध्यान रखा कि फिल्मों द्वारा जो संदेश वे दर्शकों तक पहुंचाना चाहते हैं, उन्हें लोकप्रिय ढंग से पहुंचाया जाए। इसके लिए, जहां उन्होंने यथार्थवाद और पहले से चली आ रही मेलोड्रामाई शैली का संयोजन किया, वहीं उन्होंने फिल्म की भाषा, गीत, संगीत और संवादों पर भी खास ध्यान दिया। इसके लिए उन्होंने शास्त्रीय और लोक परंपराओं का मिश्रण किया। साथ ही, इस बात का भी ध्यान रखा कि भारत एक बहुसांस्कृतिक और बहुभाषायी देश है। अतः उन्होंने भारत की विभिन्न जातीय और सांस्कृतिक परंपराओं को अपनी फिल्मों में समाहित करने का प्रयास किया और हिंदी को उच्च स्थान दिया।

हिंदी फिल्मों ने अपने को क्षेत्रीय और भाषायी संकीर्णता से दूर रखा। उन्होंने फिल्मों की कहानी को ऐसे रूप में प्रस्तुत किया कि वे किसी एक क्षेत्र तक सीमित न दिखाई दें और यदि वे किसी क्षेत्र विशेष से संबद्ध दिखाई भी दें तो उसकी अपील अवश्य सार्वभौमिक हो। प्रसिद्ध फिल्मकार महबूब खान की प्रसिद्ध लोकप्रिय फिल्म 'मदर इंडिया' का उदाहरण लिया जा सकता है जो गुजराती पृष्ठभूमि में बनी है जिसे पात्रों की वेशभूषा से आसानी से पहचाना जा सकता है, लेकिन फिल्म के किसी भी अंश में कोई पात्र या प्रसंग इस बात का संकेत नहीं देता कि उनका संबंध किसी खास क्षेत्र से है। लेकिन ऐसी सभी फिल्में बनी हिंदी में ही।

साठ के दशक के बाद हिंदी सिनेमा की यह परंपरा कमजोर होने लगी और व्यावसायिकता और सतही लोकप्रियता फिल्मों पर हावी होने लगी। इस बदलाव ने नए फिल्मकारों को सिनेमा की लोकप्रिय शैली का परित्याग करने को प्रेरित किया। इसमें समाज में हो रहे बदलाव का भी योगदान है क्योंकि साहित्य की तरह सिनेमा भी अपनी प्राणशक्ति समाज से ही प्राप्त करता है।

पिछले दो दशकों में भारतीय सिनेमा ने अपनी जातीय और लोक परंपरा को काफी हद तक भुला दिया है। जिसका असर भाषायी चेतना पर भी पड़ा है। पहले की तरह अब भारतीय फिल्मों का संबंध ग्रामीण या मध्यवर्गीय यथार्थ से लगभग खत्म-सा हो गया है। फिल्मों के विषय बदल गए हैं। आज बनने वाली अधिकतर फिल्मों में उस मध्यवर्ग का जीवन प्रस्तुत किया जाता है जो महानगरों या विदेशों में रहता है। इस महानगरीय मध्यवर्ग का संबंध उस भारत से खत्म होता जा रहा है जो आज भी देश की कुल आबादी का 80-85 प्रतिशत है लेकिन फिल्मों से यह बहुसंख्यक आबादी विलुप्त होती जा रही है।

इसका स्थान जिस मध्यवर्ग ने लिया है, उसके लिए भारत की विभिन्न सांस्कृतिक परंपराओं का महत्व उतना ही है, जितना कि फैशन की दुनिया में एथनिक पोशाकों का होता है। इस वर्ग के लिए न साझा सांस्कृतिक परंपरा की कोई प्रासंगिकता है, न हिंदुस्तानी जवान की और न ही लोक परंपराओं की जिसका असर बहुसंख्यक समाज की भाषा पर भी पड़ा है।

भूमंडलीकरण और आर्थिक उदारीकरण की जन विरोधी नीतियों के वर्चस्व और साझा संस्कृति और लोक परंपराओं के विरुद्ध सक्रिय ताकतों के दबाव ने भारतीय सिनेमा की बहुसांस्कृतिक और बहुजातीय परंपरा के सामने चुनौतियां खड़ी कर दी हैं। साहित्य और अन्य कला माध्यमों के सामने भी ये चुनौतियां मौजूद हैं परंतु, इन चुनौतियों के बीच हिंदी सिनेमा के साथ एक सुखद पक्ष यह

भी है कि इनसे संघर्ष करने वाली प्रवृत्तियां आज भी सक्रिय हैं।

बाजारवाद, तकनीकी विकास, उदारवाद का व्यापक एवं स्पष्ट प्रभाव हिंदी सिनेमा पर देखा जा सकता है। जो हिंदी भाषा कभी भारतीय सिनेमा की प्राण तत्व मानी जाती थी उसका स्थान अब 'हिंग्लिश' ने ले लिया है। शायद यह उस बदलते दौर का असर है जिसने 5000 साल से भी ज्यादा पुरातन सभ्यता जो कभी न बदलने का दंभ करती थी उसे इस बाजारवाद ने एक झटके में बदल दिया है जिसका असर सिनेमा और हिंदी भाषा पर भी पड़ा है।

प्रारंभ से ही भारतीय समाज में साहित्य की प्रखर भूमिका रही है। भाषा का समाज के इतर कोई अस्तित्व नहीं होता। भाषा से किसी व्यक्ति और समाज का रिश्ता, उसके अस्तित्व से गुंथा हुआ है। भाषा उन्नत वहीं है, जहां समाज उन्नति की राह पर है। हमने रामायण, महाभारत, पंचतंत्र जैसी गाथाओं को मौखिक रूप से संरक्षित रखा। आज भी हमारे देश में हजारों वर्षों की लोकोक्तियां, मुहावरे जिंदा हैं क्योंकि हमारा देश श्रुति परंपराओं का देश रहा है। भारतीय सिनेमा ने भी प्रारंभ में इन्हीं परंपराओं, किस्सों-कहानियों पर फिल्में बनाने की परंपरा कायम रखी जिसमें साहित्य की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष भूमिका प्रारंभ से रही है। ऐसे में, उपर्युक्त परिस्थितियों से घबराए बिना हमें आगे देखने की आवश्यकता है।

ऐसे में आवश्यकता है कि हिंदी सिनेमा को शिखर पर ले जाने वाले साहित्य (लिखित-अलिखित) के दोनों रूपों को पुष्पित-पल्लवित करने की। जो हिंदी सिनेमा भाषायी व सांस्कृतिक अंतर्संबंधों की वजह से जाना जाता था। जिस हिंदी सिनेमा ने हिंदी भाषा में संचारात्मकता, शैली, जन संप्रेषणीयता, संवाद लेखन, दृश्यात्मकता दृश्य भाषा, संक्षिप्त कथन, बिंबधर्मिता, प्रतीकात्मकता, भाषा-दृश्य की अनुपातिकता आदि मानकों को गढ़ा है। आज हिंदी फिल्में हिंदी भाषा, साहित्य और संस्कृति का लोकदूत बनकर विश्व स्तर पर हिंदी की पताका फहरा रही है। ऐसे में जरूरत है इसकी पुर्नव्याख्या करने की।

तभी, हिंदी सिनेमा कुछ नकारात्मकता के बाद भी अपने मजबूत सकारात्मक पक्षों के बल पर पुनः अपनी खोयी हुई विरासत को पा सकेगा। इसके लिए कलमकारों को भी अपनी कलम को उस ओर मोड़ने की जरूरत है जहां भारतीय समाज उठता-जागता है। कलमकारों को पुनः अपनी कलम उस ग्रामीण समाज की ओर मोड़ना होगा जहां आज भी बहुसंख्यक समाज उठता-जागता है तभी हिंदी भाषा और साहित्य के अंतर्संबंधों से भारतीय सिनेमा का यह विशाल वृक्ष बरगद का रूप ले पाएगा और हिंदी अपने एक और रूप में उन्नति पथ पर अग्रसर होगी।



## तर्क, विवेक, विज्ञानबोध और मुद्राराक्षस

कृष्ण प्रताप सिंह

वाकिफ हैं आप कि हिंदी के जाने-माने साहित्यकार मुद्राराक्षस, जिनका परिजनों का दिया नाम सुभाषचंद्र आर्य था, अब हमारे बीच नहीं रहे। 1933 में 21 जून को लखनऊ के पास बेहटा में पैदा हुए सुभाषचंद्र आर्य के मुद्राराक्षस बनने की एक रोचक दास्तान है। सुभाषचंद्र आर्य ने होश संभाला तो, कहते हैं कि हिंदी साहित्य की दुनिया में सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' की तूती बोलती थी। लेकिन 'अज्ञेय' द्वारा संपादित 'तार सप्तक' पढ़कर असहमति जताने की जरूरत महसूस हुई तो सुभाषचंद्र ने उसकी एक वैकल्पिक नजरिए से सम्पन्न समीक्षा लिखकर छपने के लिए डॉ. देवराज के पास भेज दी, जो उन दिनों एक साहित्यिक पत्रिका के संपादक हुआ करते थे। इस समीक्षा में उन्होंने 'अज्ञेय' पर जमकर हमला बोला और साथ ही साबित करने की कोशिश की कि 'अज्ञेय' के लेखन पर विदेशी लेखकों की गहरी छाप है। जानें किन दबावों के तहत डॉ. देवराज को इस समीक्षा को सुभाषचंद्र के नाम से छापना उचित नहीं लगा और उन्होंने सुभाषचंद्र से सहमति लेकर उसे मुद्राराक्षस के छद्मनाम से प्रकाशित किया। लेकिन यही छद्मनाम आगे चलकर इतना चर्चित हो गया कि उसके आगे उनका परिजनों का दिया सुभाषचंद्र नाम ही छद्म लगने लगा।

मुद्राराक्षस नाम से ढेर सारी प्रसिद्धि बटोर लेने के बाद भी सुभाषचंद्र ने लखनऊ नहीं छोड़ा और न सिर्फ साहित्यसृजन बल्कि सामाजिक आंदोलनों में भागीदारी की मार्फत भी उसकी निस्पंदता व जड़ता तोड़ते रहे। इधर कई महीनों से वे बढ़ती उम्र की तकलीफों से दो चार थे और 13 जून को तबियत बिगड़ने पर ट्रामा सेंटर ले जाया जा रहा था, तो उन्होंने रास्ते में ही दम तोड़ दिया। सांसें रहतीं तो आगामी 21 जून को वे अपना 83वां जन्मदिन मनाते।

बहुआयामी सक्रियताओं वाले मुद्राराक्षस ने हमें दस से ज्यादा नाटकों और दर्जन भर उपन्यासों के अलावा कहानियों के पांच और व्यंग्य के तीन अद्भुत संग्रह दिए हैं। आलोचना की पांच और इतिहास की तीन पुस्तकों के अलावा बीस से ज्यादा नाटकों का निर्देशन, कोलकाता की 'ज्ञानोदय' व 'अणुवार्ता' जैसी पत्रिकाओं का सम्पादन, आकाशवाणी से लम्बा जुड़ाव और समाज व सियासत से कार्यकर्ता, आंदोलनकारी, नेता, चिंतक और बुद्धिजीवी जैसी कई विवादास्पद रिश्तेदारियां भी उनके खाते में हैं।

इन सारी सक्रियताओं से ऊपर जो एक चीज उन्हें दूसरे पूर्ववर्ती या समकालीन चिंतकों, साहित्यसेवियों व बुद्धिजीवियों से अलग करती थी, वह थी तर्क, विवेक, चिंतन व विज्ञानबोध की



उनकी वह अनूठी कसौटी, जिसे मुंशी प्रेमचंद्र और सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' तो क्या महात्मा गांधी और बाबासाहब डॉ. भीमराव अंबेडकर जैसी शख्सियतों के लिए भी शिथिल करना उन्हें गवारा नहीं था।

इस कसौटी का ही प्रतिफल था कि न कभी विवादों से उनका नाता टूटा और न ही उनकी यह शिकायत खत्म हो पायी कि हिंदी में अक्सर पुनरुत्थानवादी विचार ही नवजागरण मान लिए गए हैं और विश्व की विचार चिंताओं के साथ कदम मिलाना उसके बुद्धिजीवियों को गवारा नहीं है।

अरसा पहले, महाराष्ट्र के लोकप्रिय हिंदी दैनिक 'लोकमत समाचार' के साप्ताहिक परिशिष्ट 'लोकरंग' में प्रकाशन के लिए इन पंक्तियों के लेखक से बातचीत में उन्होंने कहा था कि हिंदी बुद्धिजीवियों का वैचारिक चरित्र उन्हें अक्सर चिंतित करता रहता है। कारण? उन्हीं के शब्दों में 'ये बुद्धिजीवी न सिर्फ स्वयं हिंदू धार्मिकता से जुड़े और अपने को हिंदू मानते-लिखाते रहे हैं, बल्कि विवेकवाद की मूल वैचारिकताओं, अवधारणाओं और स्थापनाओं से उन्हें प्रायः दिक्कत होती रही है। हिंदी हिंदू क्षेत्र और कुछ दूसरे हिंदूग्रस्त इलाकों के लेखक भी, यहां तक कि कुछ एक बड़े कम्युनिस्ट लेखक भी, लिखते नहीं, 'साधना' करते हैं। उन्हें ब्राह्मण, ऋषि या महर्षि बनने की सनक सवार रहती है, साधु-संत बनने का शौक चर्चाया रहता है। इसके चलते हिंदी क्षेत्र का साहित्यकार अपने जीवन में उतना ही करना चाहता है, जितना अयोध्या या मथुरा का पंडा कर लेता है। ऐसे किसी विचारतत्व की हिंदी-हिंदू लेखकों में मौजूदगी नहीं मिलती, जो उन्हें वाल्टेयर या कांट की तरह 'एनलाइटेनमेंट' से जोड़ सके। वे आमतौर पर पुनरुत्थान पर ही भरोसा करते दिखते हैं और विश्व की विचारचिंता के साथ उनके कदम कतई नहीं मिलते।'

मुद्राराक्षस का मानना था कि महात्मा गांधी के दबाव में आकर पूना पैक्ट करना बाबासाहब डॉ. भीमराव अंबेडकर की ऐतिहासिक भूल थी। वे यह गलती नहीं करते तो आज देश में खुद को हिंदू कहने वालों की संख्या आठ प्रतिशत ही होती और दलित, पिछड़े व आदिवासी स्वायत्त समुदाय होते। तब न हिंदू बहुसंख्यक होने का दावा कर पाते, न बाबरी मस्जिद ध्वस्त होती और न ही गुजरात में कल्ल-ए-आम हो पाता। अल्पसंख्यकों के प्रति घृणा और सांप्रदायिकता का हौव्वा खड़ा कर दलित समस्याओं की अनदेखी भी तब संभव नहीं होती।

उनके अनुसार '1911 से पहले यही हिंदू अंग्रेज सरकार पर जोर डालकर जनगणना में आदिवासियों, दलितों व पिछड़ों को 'हिंदू' नहीं लिखने देते थे। बाद में महात्मा गांधी, बाल गंगाधर तिलक और महामना मदनमोहन मालवीय जैसों को चिंता हुई कि ऐसे तो हिंदू अल्पसंख्यक बने रहेंगे। यही वजह थी कि 1932 में अंग्रेजों ने कम्युनल एवार्ड की मार्फत दलिता-पिछड़ों के लिए अलग व्यवस्था की तो महात्मा गांधी ने आमरण अनशन करके हिंदी-हिंदू को बहुसंख्यक बनाने का पक्का इंतजाम कर लिया। डॉ. अंबेडकर उनकी चाल समझ नहीं पाए और उसमें फंस गए। फंस भी गए थे तो बाद में उन्हें संविधान की प्रारूप समिति का अध्यक्ष पद स्वीकार नहीं करना चाहिए था और न ही देश के पहले कानूनमंत्री का पद लेना चाहिए था।

दस ग्यारह साल पहले दलितों के एक संगठन द्वारा मुंशी प्रेमचंद्र के बहुचर्चित उपन्यास 'रंगभूमि' को जलाने से उपजे विवाद में अपना पक्ष चुनते हुए भी मुद्रा ने अपनी आलोचनात्मकता

से कोई समझौता नहीं किया था। उनका कहना था-हिंदी साहित्य में मुंशी प्रेमचंद की उपस्थिति पितामह की तरह है, लेकिन क्या आने वाली पीढ़ी को यह शपथ दिलायी जा सकती है कि वह पितामह का सब कुछ, वह सही हो या गलत, आंखें बंद करके स्वीकार कर ले या सब कुछ छोड़ उसी को ओढ़े-बिछाए? क्या तुलसीदास से लेकर चतुरसेन शास्त्री, रामविलास शर्मा और इन जैसे सभी दूसरे पितामहों को पूजते ही रहा जाना चाहिए? उनकी आलोचना नहीं होनी चाहिए? प्रेमचंद या निराला किसी के लिए पूज्य हैं तो उसे मानकर चलना चाहिए कि वे किसी के लिए आलोच्य भी हो सकते हैं। यह क्या कि जो उनकी आलोचना करेगा, आप उसकी तार्किकता पर बहस में जाने के बजाय उसे देश व समाज का विरोधी, अनुदार और गर्हित ठहराने लगेंगे?

अलबत्ता, इस 'बहस' में कूदते हुए भी उनका यह अहसास बना रहा था कि हिंदी में वह उन दिनों तक की सबसे दुर्भाग्यपूर्ण बहस थी। उन्हीं के शब्दों में 'मैं क्या करता? दलित रचनाकार प्रेमचंद और निराला को लेकर अपनी आपत्तियां पहले भी दर्ज कराते रहे हैं और सवर्ण लेखकों द्वारा इसके लिए उनकी निंदाएं भी की जाती रही हैं। प्रेमचंद ने दलितों पर कितनी 'अनुकम्पा' की है, जरूरत से कुछ ज्यादा तो नहीं कर दी है, यह एक अलग विषय है लेकिन सवर्ण लेखकों द्वारा उनके 'निंदक' दलितों की निंदा की ध्वनि कुछ ऐसी थी जैसे दलित लेखक प्रेमचंद को खारिज करके कोई बहुत बड़ा देश व समाजविरोधी अपराध कर रहे हों। सवर्ण लेखक विचारों के बजाय अनुदार टिप्पणियों में ज्यादा मुखर थे और प्रेमचंद को तर्क से परे आस्था का विषय बना रहे थे, जिसे स्वीकार नहीं किया जा सकता था। क्योंकि वहां जो मानसिकता काम कर रही थी, वह यह थी सवर्ण करें तो करें, दलितों की क्या मजाल कि वे प्रेमचंद की आलोचना करें। मैं कहता हूं कि यह हिंदी-हिंदू असभ्यता की जड़ों में समायी हुई असहिष्णुता है, जो किसी भी विरोधी स्वर को स्वीकार नहीं करती। भले ही वह प्रतीकात्मक विरोध ही क्यों न हो। यह असभ्यता हिंदी भाषा को सरस्वतीपूजा से जोड़कर उसे उत्तर भारत के हिंदू धर्मावलम्बियों की भाषा बना देने का सपना देखती है। उसके अनेक 'बुद्धिजीवी' अपने को ही समूचे देश का मालिक समझते हैं और मानकर चलते हैं कि उनके साम्राज्य के सामने सबको झुककर रहना या चलना चाहिए।'

इन पंक्तियों के लेखक ने पूछा कि मुंशी प्रेमचंद की आलोचना करते हुए उन्हें संतति निग्रह और हरविलास शारदा ऐक्ट का विरोधी ठहराने की सीमा तक चले जाना क्या उनका खुद का अनुदार हो जाना नहीं था, तो उन्होंने दो टूक कह दिया था कि आप अपना कोई भी मत रखने को स्वतंत्र हैं।

अंतिम दिनों में मुद्राराक्षस इस बात को लेकर बहुत दुःखी रहने लगे थे कि राजनीति परिवर्तन का माध्यम न रहकर उद्योग बनती जा रही है और विचार अपने रुख बदल-बदलकर बिकाऊ होते जा रहे हैं। वे कहते थे-इसी के चलते दलित राजनीति की सबसे बड़ी पहचान के रूप में मायावती सरीखी नेता भी नब्बे फीसदी दलितों-पिछड़ों की छोड़ दस फीसदी सवर्णों के नियंत्रण व नियमन वाली राजनीति कर रही हैं। हिंदुत्व की ही एक धारा के ध्वजवाहक गांधी के स्वयंभू वारिस बनकर खड़े हैं, जो किसी को समझने ही नहीं देना चाहते कि आज की तारीख में दलितों-वंचितों की पैरोकारी ही परिवर्तन का अनिवार्य तत्व है। जिस दिन इसे समझ लिया जाएगा, बेहतर समाज निर्माण की उम्मीदें बलवती हो जाएंगी।'

आगे का रास्ता बताते हुए उन्होंने कहा था-‘जिन गांधी ने हिंदुओं को बलात बहुसंख्यक रूप में देश पर आरोपित कर दिया, सबसे पहले तो उन्हें त्राणदायक मानना बंद किया जाना और दलितों व पिछड़ों के अधिकारों को स्वीकार किया जाना चाहिए। इसके बिना आधुनिक भारतीय समाज, संस्कृति, व्यवस्था और चिंतन कतई रेशनल नहीं हो सकते। न ही देश को सच्ची आजादी मिल सकती है। यह कोई आजादी नहीं है कि देश की एक चौथाई आबादी को बेहद गंदा, बदबूदार व सड़ता हुआ पानी पीना पड़ता है। आधी आबादी एक वक्त का भरपूर खाना नहीं जुटा सकती। साठ करोड़ से ज्यादा लोग आज भी निरक्षर हैं और कुष्ठ व अंधत्व के सबसे ज्यादा रोगी इसी देश में हैं। यह कौन-सी आजादी है, जिसमें चार हजार सिख या पौने तीन हजार मुसलमान बीबी बच्चों सहित जलाकर ईंट पत्थरों से कुचलकर या भाले-तलवारों से बर्बरतापूर्वक मार दिए जाते हैं?’

उनके ऐसे ही नजरिए के कारण कई लोग उन पर अराजकतावादी होने की तोहमत लगाते थे। उन्हें जवाब देते हुए मुद्रा ने कहा था- ‘आप अपना नजरिया तय करते वक्त सच्चाई से आंख मूंद लें और शत्रुमुर्गी आचरण पर उतर आएँ तो ठीक और मैं उसमें आपकी मदद करने से मना कर दूँ तो मैं अराजकतावादी? अब मैं इस डर से तो मुंह बंद रखने से रहा कि सच बात सुनकर कुछ लोग तिलमिलाएंगे या ताव खाएंगे? मैं क्या करूँ, अगर सच कड़वा होता है और हिंदी-हिंदू लोगों व देवपूजकों से वह बर्दाश्त नहीं होता। वे उसे बोलने वाले से निपटने के लिए अपने लठैतों को आगे कर देते हैं और कुछ ज्यादा ही धमाचौकड़ी मचाने लगते हैं, तो क्या इसके लिए भी मैं ही जिम्मेदार हूँ? हिंदी-हिंदू क्षेत्र का सदस्य होना भी मेरे निकट एक ऐतिहासिक त्रासदी ही है। क्या करूँ, महात्मा गांधी हिंदी-हिंदू भक्त थे और उन्होंने डॉ. अंबेडकर को पूना पैक्ट के लिए विवश करके मुझे यहां फंसा दिया!’



## संवाद

# आलोचना रचना से कमतर नहीं होती : श्रोत्रिय

डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय जिस संजीदा व्यक्तित्व के धनी हैं, वही संजीदगी उनकी रचनाधर्मिता के सोच और चिंतन में भी दिखाई देती है। डॉ. श्रोत्रिय ने लगभग दो दर्जन आलोचना पुस्तकों सहित कोई 40 पुस्तकें लिखीं, जिनमें 3 नाटक भी हैं। उनकी महत्वपूर्ण आलोचना कृतियों में 'कविता की तीसरी आंख', रचना एक यातना है, 'संवाद', कालयात्री है कविता', 'मेघदूत एक अंतर्यात्री' 'शमशेर बहादुर सिंह', 'नरेश मेहता', 'जयशंकर प्रसाद की प्रासंगिकता', 'सुमन: मनुष्य और स्रष्टा' आदि तथा उनके निबंधों में- 'सौंदर्य का तात्पर्य', 'समय का विवेक', 'समय समाज साहित्य', 'सर्जना का अग्निपथ' आदि और नाटकों में 'इला', 'फिर से जहांपनाह', 'सांच कहूं तो' शामिल हैं। वे मानते थे कि जब तक वाणी के सच में कर्म का सच नहीं शामिल होगा, साहित्य का समाज पर प्रभाव संदिग्ध ही रहेगा। उन्होंने 'साक्षात्कार' तथा 'अक्षरा' पत्रिकाओं का संपादन किया। निदेशक, भारतीय भाषा परिषद, कलकत्ता और बाद में निदेशक, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली का गुरुतर दायित्व भी वहन किया तथा दोनों स्थानों में क्रमशः 'वागर्थ'- और 'नया ज्ञानोदय' पत्रिकाओं के संस्थापक संपादक रहे। इनके द्वारा उन्होंने गंभीर साहित्यिक पत्रकारिता का परचम लहराया। पिछले दिनों प्रकाशित उनकी आलोचनात्मक पुस्तक 'भारतीय साहित्य में महाभारत की खोज' खासी चर्चित रही है।

आलोचक के रूप में वे शायद कुछ और महत्वपूर्ण कार्य करते लेकिन इस बीच 15 सितंबर 2016 की रात्रि में हृदयगति रुकने से उनका निधन हो गया। सहारनपुर की एक साहित्यिक यात्रा के दौरान लौटते समय कवि-कथाकार **कमलेश भट्ट 'कमल'** ने उनसे साहित्य और आलोचना के परिदृश्य को केंद्र में रखकर बातचीत की थी। उन्हें श्रद्धांजलि देते हुए हम पाठकों के लिए यह महत्वपूर्ण संवाद प्रकाशित कर रहे हैं :

शमशेर बहादुर सिंह (13 जनवरी 1911-12 मई 1963 ई.) का यह जन्मशताब्दी वर्ष है। आपका उन पर एक विनिबंध (जो आलोचना ही है) आया है। हिंदी साहित्य में शमशेर बहादुर सिंह को एक बड़े कवि के रूप में मान्यता मिली है। उनका यह बड़ा होना आप किस रूप में देखते हैं?

बड़ा कवि बड़े सोच और रचनात्मक विजन से बनता है। शमशेर उदार मानवतावादी दृष्टि के कवि, बहुत अच्छे इनसान थे, जो काव्य में भी अपना साक्ष्य देते हैं। उनमें किसी तरह की संकीर्णता नहीं है। उनकी रचनात्मक दृष्टि मूलतः सौंदर्यपरक है। 'नई कविता के पूरे काल में शमशेर से बढ़कर सौंदर्यचेता कवि नहीं है। उन्होंने प्रकृति में तो सौंदर्य देखा ही मनुष्य में भी सौंदर्य देखा है। उनके अंदर सूक्ष्मता बहुत जबर्दस्त है जो संक्षेप में बड़ी से बड़ी बात कह देने की क्षमता रखती है।' उन्होंने विपुल काव्य नहीं देखा है। दो-तीन काव्य संग्रह ही हैं उनके। तो लिखा बहुत कम है लेकिन गहन

अंतर्दृष्टि, सूक्ष्मता और बारीकी से सौंदर्य और जीवन के संवेदन, कंठ और विविध जीवनानुभव और बारीकी से सौंदर्य और जीवन के अनेकानेक बिंबों को- सौंदर्य के बिंबों को पकड़ा है। जीवन भी उनका बहुत सरल था। पत्नी का निधन बहुत पहले (1935) में हो गया था, लेकिन उन्होंने दूसरी शादी नहीं की। उनकी पत्नी धर्मवती यक्ष्मा से पीड़ित थीं, उनकी बहुत सेवा की उन्होंने। उनमें एकनिष्ठता थी।

सूक्ष्मता, भाषा की बुनावट, सौंदर्य की व्यापक दृष्टि और गहरा मानवीय संवेदन- कुल मिलाकर काव्यात्मक विजन तथा जीवन के प्रति जो उनका उदार दृष्टिकोण है वह उन्हें बड़ा बनाता है। प्रकृति और जीवन का जो सूक्ष्म सौंदर्य होता है वह उन्होंने बहुत सुंदरता से पकड़ा और व्यक्त किया है।

**शमशेर बहादुर सिंह में आपने जिस विजन तथा जिस सौंदर्य-परकता की बात की, उन्हें कहां से मिला? क्या प्रगतिवाद से, जिसके वे कवि कहे जाते हैं?**

कवि वादों-विवादों से ऊपर होता है। संवेदना के प्रति जुड़ाव तो मनुष्य या कवि में 'इनबिल्ट' होता है, लेकिन शमशेर के भीतर मूल संवेदना बहुत गहरी थी। यहां तक देखिएगा कि जब चीन का आक्रमण हुआ तो उन्होंने एक महत्वपूर्ण कविता लिखी। अपने यहां प्रगतिशील कवियों में यह बात होती है कि जो चीन-रूस कर दे (चाहे अपने देश पर आक्रमण ही) वह उन्हें अपने देश से भी बड़ा लगता है लेकिन शमशेर ने अपनी कविता में चीनी आक्रमण का विरोध किया।

अपना अनुभव आपको बताता हूं। मैंने शमशेर पर कोई 25 वर्ष पहले 'आलोचना' पत्रिका में एक लेख लिखा था। उस पर उन्होंने चार फुलस्केप लंबा पत्र मुझे भेजा था। उसमें उन्होंने लेख की बहुत प्रशंसा लिखी थी लेकिन साथ ही यह भी लिखा कि 'आपको यह कहना तो सही नहीं है कि मैं कम्युनिस्ट पार्टी से जुड़ा रहा हूं।' जो प्रतिबद्धताओं के घेरे को तोड़ता है यह कवि बड़ा बनता है। शिविरों में बंध कर नहीं, उनसे बाहर निकलकर एक लेखक अपने समय को आगे ले जाने के लिए कितना संघर्ष करता है तथा अपने समय को आगे बढ़ाने में उसकी कितनी भूमिका होती है, यह उसका साहित्य और समाज के प्रति योगदान होता है और यही एक लेखक के महत्व की कसौटी है।

**आपने शमशेर की कविता में जिन बातों का उल्लेख किया है वे उन्हें प्रगतिशील कवि घोषित करने के लिए पर्याप्त नहीं लगती हैं। बावजूद इसके प्रगतिशील कवि उन्हें अपने खेमे का कवि मानते हैं। ऐसा क्यों हुआ?**

इसलिए कि शमशेर बहादुर ने कड़की के शुरुआती दिनों में बम्बई में कम्युनिस्ट पार्टी के साप्ताहिक अखबार 'नया साहित्य' का संपादन किया। शमशेर बहुत संघर्षों में जिए हैं। कविता लिखने के लिए वे घर से भागकर दिल्ली गुरुद्वारे में रहे। मूल रूप से अंग्रेजी के आदमी रहे। तब विद्यालयों में अंग्रेजी के अलावा फारसी, अरबी खासकर उर्दू पढ़ाई जाती थी। उर्दू की पढ़ाई तो तहजीब का हिस्सा मानी जाती थी। उस समय हिंदी में कविता लिखना भी एक संघर्ष की तरह था। इसी तरह वे बंबई भी गए और कम्युनिस्ट अखबार में उन्होंने काम किया। वे कुछ वर्ष कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य भी रहे। इस कारण उन्हें प्रगतिशील कहा जाता है परंतु 'वे मूलतः सौंदर्य के कवि हैं। प्रगतिशील रचनाएं उन्होंने शुरू में कुछ लिखीं, पर अपनी श्रेष्ठ रचनाओं में उन्होंने शामिल नहीं किया।' एक अच्छे कवि के भीतर प्रगतिशील संवेदन का होना स्वाभाविक है, पर शमशेर हमेशा अपने को सभी शिविरों और बाड़ों से असंबद्ध मानते रहे। क्योंकि वे बड़े कवि हैं तो प्रगतिशील उन्हें छोड़ने

को तैयार नहीं होते हैं, पकड़े रहते हैं। वे किसी दल से बंधे नहीं थे। वे कई भूमिकाओं में भी लिख चुके हैं कि उनका कम्युनिस्ट आंदोलन से कोई वास्ता नहीं है। मैंने अपना उदाहरण आपको दिया ही है। शमशेर का वह पत्र मेरी पुस्तक 'संवाद' में पूरा छपा है।

**हिंदी साहित्य में प्रगतिशील कविता का योगदान आप किसी रूप में देखते हैं?**

प्रगतिशील कविता के संवेदनात्मक दृष्टि को एक तार्किकता दी है, एक बौद्धिकता दी है, एक तरह का सैद्धांतीकरण किया है। हर रचनाकार में बुनियादी प्रगतिशीलता के तत्व होते हैं। असल में प्रगतिशील विचार ने स्पष्ट रूप से वर्ग भेद को पहचानने में मदद की। गरीबी और गरीबों की व्याख्या करते हुए एक तर्क-प्रधान विचार को विधिवत् व्यवस्थित रूप दिया और बताया कि प्रगतिशीलता है क्या? पहले जिसे कैजुअली देखा जाता था उसे उसने विचार-बद्ध किया।

**बावजूद इसके, इस कविता से पाठकों की दूरी निरंतर बढ़ी है। प्रकाशक इस कविता को प्रकाशित नहीं करना चाहते हैं। क्या कारण देखते हैं इस विरोधाभास के?**

दरअसल पाठकों की लय से कविता की लय नहीं मिल पा रही है, ऐसा मुझे लगता है, प्रगतिशील आंदोलन तथा प्रयोगवादी आंदोलन शुरू तो चौथे दशक से हो गए थे, लेकिन पांचवें दशक में एक तरफ प्रगतिशील कविताएं सपाट, शुष्क और विचार की आवृत्ति जैसी हो गईं, वहीं दूसरे प्रकार की कविता के संसार को एलीट संसार में बदलने की कोशिशें तेज हो गईं। कवियों की रचना पद्धति पाठकोन्मुखी न होकर आत्मोन्मुखी होती गयी। जैसा कवि स्वयं अनुभव करता है, केवल वही लिखने का आग्रह बढ़ता गया। पाठक की चिंता जैसे छोड़ ही दी गई! छंद मुक्त कविता तो खैर कविता में नवीनता की उद्घोषक और परिवर्तन की सूचक थी, परंतु वह आधुनिकता का पर्याय हो गई। आत्यंतिक स्तर पर छन्द से दूरी बढ़ा ली गयी।... अपने युवाकाल में हम लोग कवि सम्मेलन सुनने दूर-दूर तक जाया करते थे और तब हजारों-हजारों की भीड़ होती थी। रात-रात भर कवि सम्मेलन चलते थे। निराला, मैथिलीशरण गुप्त भी आते थे उन मंचों पर। उस समय कवि सम्मेलन कविता को पाठकों से, श्रोताओं से जोड़ने का बहुत बड़ा कार्य करते थे। पाठकों की एक नर्सरी भी थी कवि सम्मेलन। लेकिन नए कवियों ने, उनमें पतनशील कवि भी शामिल हैं, कवि सम्मेलन के कवियों का बहिष्कार किया और उन्हें निम्नकोटि का सिद्ध किया जबकि स्वयं मंच-कवियों ने कभी भी महादेवी, निराला, पंत की कोटि में आने की कोशिश नहीं की। जब कथित गंभीर नए कवियों ने मंचीय कवियों की अपमान की हद तक उपेक्षा की तो उन्होंने भी नए कवियों की ओर गौर नहीं किया। उधर कवि सम्मेलन की कविता को भी धीरे-धीरे सम्मान मिलना कम हो गया, फिर मंच चुटकुले और हास्य कविताओं के हवाले हो गया।

**पहले पाठ्य कवि श्रेय कवि के रूप में प्रस्तुत होते थे लेकिन बाद में ऐसा नहीं रह पाया। तो कवि सम्मेलन से जो पाठकों का मोह भंग हुआ तो यह बड़ा नुकसान था पाठक और कविता के संबंधों का।**

एक कारण यह भी रहा कि जो लोग कविता से छंद के कारण जुड़े हुए थे, नयी तरह की कविता में उन्हें छंदों वाली यह रसात्मकता नहीं मिली जो पाठकों से जोड़ती है। वह पाठक को लेकर नहीं चलती। मैथिलीशरण गुप्त की कविता 'भारत भारती' आज अप्रासंगिक-सी लगती है, लेकिन एक समय तो वह गीता की तरह पढ़ी और पूजी जाती थी क्योंकि पाठक और कवि का मानसिक धरातल एक-सा था।

एक तर्क यह भी दिया जाता है। नए और प्रयोगवादी कवियों द्वारा कि यदि उनकी कविता को समझना है तो पाठक को उनके बौद्धिक स्तर तक उठना होगा। कितना तर्कसंगत है यह?

कमलेशजी, एक वह प्रतिभा होती है जो रचना करती है, दूसरी प्रतिभा कविता को ग्रहण करने वाली होती है उसे राजशेखर ने क्रमशः कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा कहा है। दोनों प्रतिभाएं अन्योन्याश्रित होती हैं। जिस तरह के कवि और कविता की बात अपन कर रहे हैं, वहां कविता आगे निकल गयी और यह तो रचना का स्वभाव है और सर्जना का लक्षण भी, परंतु रचना का एक काम पाठक का संस्कार करना, उसे भी अपने स्तर पर लाना होता है। कवियों ने चिंता ही नहीं की कि हमारा पाठक बहुत पीछे रह गया। होना यह चाहिए था कि कविता पाठक को साथ-साथ लेकर चलती। फिर पाठक का रुझान कम होने लगा तो मनोवैज्ञानिक रूप से उसका जुड़ना मुश्किल होता चला गया। आप कितना भी रिझाने की कोशिश करें, यदि पाठक को कविता में आनंद नहीं मिलता तो वह उससे असंबद्ध हो जाएगा, उसे अरुचि हो जाएगी। जैसे कविता से जुड़ाव का संस्कार पीढ़ी-दर-पीढ़ी होता है, वैसे ही अलगाव भी।

गद्य में तो पढ़ने के साथ एक दिलचस्पी पैदा हो जाती है, अपने परिवेश और जीवन के समृद्ध वातावरण के बीच पाठक को अपना होना महसूस होता है। लेकिन कविता में एक बौद्धिक रचाव होता है इसलिए पाठक जुड़ नहीं पाता है। छायावाद के काल तक भी कविता खूब पढ़ी जाती थी। स्कूलों-कॉलेजों, विश्वविद्यालयों में वातावरण था, घर-परिवार में वातावरण था। तब जब प्रसाद की गहरी रचनाएं आती थीं तो भी लोग जुड़ाव की वजह से उनमें इन्वाल्व हो जाते थे। यहां तो फ्रांस के प्रतीकवादियों की अवधारणा अपना ली गयी कि जिस कविता के जितने कम पाठक होते हैं वह उतनी ही महान होती है। इसके प्रभाव में हमारे यहां रचनाएं लिखी गयीं। शिविर-बद्धता की वजह से भी बहुत नुकसान हुआ। बहुत सारे कवियों से पाठक को वंचित करने की कोशिश की गई, अपने बल पर खड़े कवि उपेक्षा के शिकार हो गए। साहित्य में एक दरिद्रता आई। कहा जाए तो संवेदना को पाठक के पास पहुंचाने वाली जो प्रणाली है, उसका हमने समुचित विकास नहीं किया।

आपने कल ही अपने भाषण में कहा ही कि यदि वाणी के सच में कर्म का सच शामिल नहीं होगा तो वाणी में प्रभाव नहीं आएगा। कहीं यह विसंगति भी तो कविता के साथ नहीं जुड़ गई है?

बिलकुल जुड़ गई है। कविता के बारे में यह सच है कि उसमें कर्म का सच भी शामिल होना ही चाहिए। आखिर वह समय भी तो था कि लोग कविता में उतरने की कोशिश करते थे, बल्कि उतरते ही थे लेकिन परवर्ती काल में कवि ही नकली होते चले गए। कविता को लेकर ज्यादातर लोगों का, जिनमें हम भी शामिल है, रुझान घटा है तो ऐसे ही कवियों-लेखकों के चरित्र के कारण भी घटा है। चरित्र तो रचनाकारों के घटिया होते गए और बातें बड़ी-बड़ी होती गईं। यह एक मोटी बात है। इसे दूर तक यानी रचना-प्रक्रिया तक नहीं खींचना चाहिए।

आपकी अपनी आलोचना-पद्धति की वे क्या प्रवृत्तियां रही हैं जिनसे आप स्वयं को दूसरे आलोचकों से अलग पाते हैं?

किसी व्यक्ति का अपने बारे में कुछ कहना उचित नहीं होता है। यह काम लेखक का स्वयं का नहीं है, बल्कि पाठक का है। हम तो केवल अपनी रचना-प्रक्रिया की बात कर सकते हैं। मैंने

अपने साहित्य में विशेषतः नाटकों में देखा कि जो नाटककार ने नहीं सोचा था या जो केवल अवचेतन में था, वैसी-वैसी चीजें लोगों ने कहीं। लोगों ने ऐसी कई बातें निकालीं जिसे पढ़कर मैं स्वयं चकित रह गया और वे बहुत तार्किक और औचित्यपूर्ण भी थीं। खैर!

जो आलोचना की रचना-प्रक्रिया है वह काव्य या साहित्य की रचना-प्रक्रिया से अलग नहीं है। जैसे किसी रचना के लिए साहित्यकार को भाषा की तलाश करनी पड़ती है वैसे ही आलोचक को भी भाषा की तलाश करनी पड़ती है। एक तो जिम्मेदारी यही है कि लेखक जीवन का मूल्यांकन करता है, परिस्थितियों का मूल्यांकन करता है लेकिन आलोचक को उस जीवन को देखना पड़ता है और लेखन को भी। इसीलिए आलोचक का काम दोहरा, संघर्ष दोहरा है। आलोचक का प्रवेश बहुत सारे विषयों, सारी प्रवृत्तियों में होना चाहिए, जीवन और रचना दोनों को देख पाने की दृष्टि होनी चाहिए। जैसे यदि आप शमशेर के बारे में मेरी पुस्तक पढ़ें तो हो सकता है जितना उनके बारे में जानते हैं उससे ज्यादा अच्छी चीजें आपको मिलें। जैसे मैंने हाल में नरेश मेहता पर लिखा तो उनकी पत्नी कहने लगीं, क्या किसी आलोचना को पढ़कर रोया भी जा सकता है? तो आलोचना में संवेदना भी होती है। उसमें दूरदृष्टि भी होती है।... मुक्तिबोध पच्चीसों बार एक चीज को काटते थे। उनकी कविता 'भूलगलती' का प्रारंभिक ड्राट देखिए और छपी हुई कविता देखिए तो दोनों में बहुत फर्क नजर आएगा। ड्राट बदलने में जो अनुभव का पकाव होता है उसके लिए लगातार संघर्ष करना पड़ता है। ऐसे ही आलोचना के साथ भी होता है।

**आलोचना में आलोचक की पसंद-नापसंद की क्या भूमिका होती है?**

दरअसल आलोचक को किसी रचना के सभी पहलू नजर आने चाहिए तभी वह संपूर्ण आलोचना होगी। अगर रचना में गुण हैं तो वह भी सामने आना चाहिए और दोष है तो वह भी-भले ही हम उसे पसंद या नापसंद करते हों। पूर्णता तो किसी में नहीं होती है। मुक्तिबोध में ऐसे कई गुण नजर आते थे जो अन्यो में नहीं नजर आते थे। इसी तरह अज्ञेय के कई ऐसे गुण थे जो मुक्तिबोध में नहीं थे। यदि मुक्तिबोध की दृष्टि से देखेंगे तो अज्ञेय में गुण नजर ही नहीं आएगा। कहने का मतलब यह कि यदि हम एक दृष्टि से ही देखकर रचना को खारिज कर देते हैं तो इससे साहित्य में दरिद्रता आती है। आलोचक की दृष्टि व्यापक होनी होती है, सीमित नहीं। पाठक तो वह पढ़ेगा तो उसे पसन्द आएगा लेकिन आलोचक को वह भी पढ़ना पड़ता है जो उसे पसंद नहीं आता है। यदि उसमें कोई अच्छा पहलू है तो उसे भी तलाशना पड़ता है। बहुआयामी दृष्टि से देखने पर गुण-दोष दोनों नजर आते हैं। आलोचना का मतलब होता है आ-लोचना अर्थात् पूरा देखना। यदि आलोचना नहीं करेंगे, एकांगी दृष्टि से देखेंगे तो समूचा नहीं देख पाएंगे।

**यदि पाठक साहित्य से नहीं जुड़ते हैं तो इसका समाज पर क्या प्रभाव पड़ता है?**

कमलेशजी, संवेदनशीलता, सौंदर्यबोध, सृजनोन्मुखता जैसी कई प्रवृत्तियां कला के माध्यम से विकसित होती हैं। यदि कविता या कला से नहीं जुड़ते हैं तो धीरे-धीरे ये सारे बोध शिथिल पड़ जाते हैं। हमारी प्रवृत्ति में जो कोमलता है वह भी शिथिल होती है इससे। 'यह मानकर चलना कि साहित्य का अच्छा-बुरा कोई प्रभाव समाज पर नहीं पड़ता है, गलत है! बहुत-सी चीजों में आस्वादन, आनंद का जो बोध होता है, उसकी अनुपस्थिति में निश्चित रूप से फर्क पड़ता है और लगता है कोई चीज हमने खो दी है।' साहित्य का संबंध भौतिक स्थिति से नहीं है, इसका भावात्मक,



विचारात्मक संसार से नाता है और दोनों ही जरूरी हैं। शरीर की तरह आत्मा की भी भूख होती है। एक सौंदर्य की भी भूख होती है, एक ज्ञान की भी भूख होती है। साहित्य से समाज विमुख होता है जो समाज में उपभोक्तावाद बढ़ता है, अच्छी बातों के लिए संवेदनहीनता पैदा होती है। हम ज्यादा भौतिकवादी हो जाते हैं, हममें ज्यादा आत्मकेंद्रिकता आ जाती है। सामाजिकता को आहत करने वाले जो तमाम सारे तत्व होते हैं, उनमें एक यह भी होता है परंतु कृपा कर इसे आत्यंतिक रूप से न लीजिए और कविता का अर्थ कला एवं सृजनशीलता के मनोभावों के व्यापक अर्थ में लीजिए क्योंकि एक मनुष्य के भीतर भी स्वयं कला-सौंदर्य बोध पैदा होता है। वह उसकी सृजनशीलता है।

**समकालीन रचनाधर्मिता की दशा और दिशा आपको कितना आश्वस्त करती है?**

वैसे मुझे लगता है कि समकालीन रचनाशीलता से निराश होने जैसी कोई बात नहीं है। बस यही है कि वह समाज में प्रतिफलित वैसी नहीं होती है। वह इसलिए कि समाज में उसकी व्याप्ति वैसी नहीं है। हजारों पत्रिकाएं हैं, इनमें सैकड़ों अच्छी पत्रिकाएं हैं लेकिन वे बहुत कम लोगों तक ही पहुंच पाती हैं। युवा लोगों की रचनाशीलता सजग है लेकिन 'आज का युवा योग्यता-केंद्रित न होकर उपलब्धि-केंद्रित है। थोड़ा-सा करके सब कुछ पा लेना चाहता है और इस उपलब्धि के लिए वह तमाम सारे काम करने लगता है जो रचना के विरोध में जाते हैं!' जबकि उसे रचना-कर्म में रत होना चाहिए। वह रचना का का भरपूर लाभ लेने का प्रयास करने में जुट जाता है। यह भूल जाता है कि साधना पूरे जीवन की चीज है। जो चीजें इतनी लंबी साधना से उपलब्ध होती हैं, उन्हें वह तुच्छ साधना करके ही पा लेना चाहता है। इसलिए मैं देख रहा हूं कि लेखक ज्यादा दूर तक नहीं चल पाता है। या तो वह जल्दी ही आत्मसंतुष्ट हो जाता है या अपने लक्ष्य पूरे न होने से निराश हो जाता है। रचनात्मकता निरंतर साधना है। यदि आप आखिरी समय तक नहीं लिखते हैं तो चुके हुए मान लिए जाते हैं। नई पीढ़ी तो बहुत जल्दी चुक जाती है।

मुझे याद आता है, एक 25-30 साल के अमरीका में पढ़ रहे युवा ने अपने पिता को लिखा कि मैं जीवन की सारी उपलब्धियां पा चुका हूं, अब मुझे कुछ भी पाना शेष नहीं है तब क्या जीना? विडंबना देखिए कि उस युवा ने आत्महत्या कर ली! तात्कालिक उपलब्धियों को अंतिम मानकर जीवन के प्रति यह दृष्टिकोण रखना सरासर आत्मघाती है। कोई रचनाकार जब खुद भौतिकतावाद का शिकार बन जाता है तो वह इस तरह की प्रवृत्तियों को समाज में बढ़ाने का कारक भी बन जाता है।

**एक अत्यंत अनुभवी आलोचक के रूप में आप भारतीय साहित्य की पहचान के क्या बिंदु देख पाते हैं?**

कमलेशजी, 'भारतीय साहित्य की प्रवृत्तियाँ वही हैं जो भारतीय संस्कृति की हैं। सभी कलाएं संस्कृति का अंग होती हैं। भारतीय संस्कृति के लक्षण हैं सहिष्णुता, सभी मनुष्यों की एकता, वैविध्य की मान्यता, गहन साधना का भाव। संस्कृति भी एक साधना की अपेक्षा रखती है, एक तप, संवेदना, एकता और अनेकता का बोध भारत का सबसे बड़ा बोध है। यह साहित्य में भी है और संस्कृति में भी।' इसी का एक पक्ष सहनशीलता है। बिना इसके न तो भारतीय संस्कृति पूरी हो पाती है, न साहित्य। हमारे यहां रचना-कर्म को तपस्या, साधना माना जाता है। जितने भी बड़े कवि हुए वे बहुत साधक हुए हैं। एक रचनाकार को वैविध्य का ज्ञान, एक परंपरा का बोध, उस ग्रहणशीलता अर्थात् जो ग्रहण करने लायक है उसे ग्रहण करने की योग्यता तथा जो त्याग देने योग्य है उसको त्याग देना

आदि का भी ज्ञान होना ही चाहिए। कालिदास कह गए हैं-

*‘पुराणमित्येव न साधु सर्वं  
न चापि काव्यं नव मित्य वद्यम्  
संतः परीक्ष्यन्तर तद भजन्ते  
मूढः पर प्रत्यय येन बुद्धिः ।’*

इसी प्रकार विवेक-संपन्नता भी भारतीय साहित्य का उल्लेखनीय लक्षण है। भारतीय साहित्य की एक बहुत बड़ी विशेषता जिज्ञासा भी है। उपनिषद्, महाभारत ये प्रश्नोत्तर हैं। गांधी का ‘हिंद स्वराज’ सारा प्रश्नोत्तर है। प्रश्नोत्तर की यह परंपरा बताती है कि कोई भी प्रश्नों से परे नहीं है। साहित्य भी अंततः प्रामाणिकता की मांग करता है। जब कोई नया सिद्धांत आता है तो कारण देना पड़ता है। पुराने का खंडन नहीं होता है, बल्कि उसका जो ग्रहणशील हिस्सा है, उसे शामिल कर लिया जाता है।

**आध्यात्मिकता भी भारतीय संस्कृति का एक महत्वपूर्ण लक्षण है। साहित्य में इसे आप किस रूप में देखते हैं?**

आपने ठीक कहा। आध्यात्मिकता भारतीय साहित्य की एक बड़ी प्रवृत्ति है। आध्यात्मिक का मतलब धार्मिक नहीं है। गांधीजी ने कहा कि धर्मों के भीतर जो धर्म है उस धर्म से मेरा आशय है। आध्यात्मिकता के कारण साहित्य के प्रति हमारी भावना संवेदनमयी, पावन होती है। इसकी वजह से साहित्य में एक प्रांजलता, सुसंस्कृतता, पवित्रता आती है।

**भारतीय साहित्य में सौंदर्य की बात प्रायः की जाती है। इस सौंदर्य को बोध के स्तर पर किस प्रकार देखते हैं?**

भारतीय साहित्य ने सौंदर्य की कोटियां नहीं कीं। उन्होंने एक बात कही है- “कान्ता सम्मितयोपदेश युजे” यहां उपदेश की भी बात की गई है, बल्कि जैसे प्रिया की बात हमें अपील करती है, वैसी ही प्रियता से साहित्य को बड़े से बड़ा उपदेश देना चाहिए क्योंकि प्रभावशीलता और संप्रेषण बड़ी चीज है। पहले भी कह चुका हूं कि राजशेखर ने लिखा है, प्रतिभा दो तरह की होती है- कारयित्री प्रतिभा अर्थात् रचनाकार की प्रतिभा और भावयित्री प्रतिभा अर्थात् पाठक की प्रतिभा। इसीलिए पाठक को ‘सहृदय’ कहा गया है। कोई चीज सबको अपील नहीं करती है। जो आपकी चीजों को ग्रहण कर रहा है उसमें भी भावयित्री प्रतिभा होती है। रस और ध्वनि भी सौंदर्य के ही अंग हैं। इसी से जुड़ा है आस्वाद-संप्रेषण, जिसे शुक्लजी ने परंपरा में साधारणीकरण कहा है। रिचर्ड्स ने इसे भी संप्रेषण कहा है। इसमें बहुत-सी चीजें जुड़ी हैं। ‘आप अपने लिए नहीं लिखते हैं। जब यह कहा जाता है कि ‘अहम् ब्रह्मास्मि’ तो अहम् माने सिर्फ मैं नहीं बल्कि यहां अहम् का अर्थ आत्मा। जो सबमें है। मैं हूं तो आप भी, वह भी ब्रह्म, हर कोई ब्रह्म है। इसीलिए सबके लिए जो प्रीतिकर हो वह सौंदर्यबोध है।

सर्जनात्मक लोकतंत्र हमारे यहां बराबर रहा है। उपनिषद में कहा गया है कि जब शिष्य गुरु के पास से विदा लेता है तो गुरु उससे कहता है-

*‘यान्यस्माकं सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि ।’*

अर्थात् जो मेरा सुचरित्र हो तुम उसको अपनाओ। जितनी भी हमारी बुराइयां हैं उन्हें हमारे पास रहने दो। गुरु शिष्य पर अपने आपको थोपता नहीं है वह बताता है- मातृदेवोभाव, पितृदेवो भव! तो हमारे साहित्य में कुछ भी लादा नहीं जाता है न काव्य, न दर्शन, न विचार।

आलोचकों को हमेशा इस बात के लिए भी कठघरे में खड़ा किया जाता है कि हिंदी में इतना विपुल लेखन, हर विधा में होने के बावजूद आलोचक की निगाह बहुत सीमित दायरे में ही सिमटी रहती है। क्या कहेंगे इस स्थिति पर?

इसका कारण यह है कि आलोचक कम संख्या में मिलते हैं और जिनको आप कवि कहते हैं वह भी कम संख्या में मिलते हैं। 'न हर लिखने वाला रचनाकार और न हर रचना का लिखने वाला आलोचक होता है। हजारों, लाखों में एक लेखक या कवि होता है, वैसे ही आलोचक। रचनाएं तो बहुत हैं, रचनाकार बहुत कम हैं।' ज्यादातर लेखक अपनी विशिष्टता और अद्वितीयता बनाने की साधना ही नहीं करते हैं। उसी तरह आलोचना की साधना करने वाले कम हैं। जिसे आलोचक कहते हैं उसके मानदंड बड़े कड़े हैं। उसी तरह कवि कोई-कोई होता है। कहा जा चुका है :

*'पुरा कवीनम् गणनाप्रसंगे कनिष्ठिकाधिष्ठित कालिदासः*

*अद्यापितत्तुल्य कवेरभावात् अनामिका सार्थवतीबभूव ।'*

यानी कवियों में एक ही कवि हुआ 'कालिदास' जबकि कवि असंख्य हुए होंगे।

'देखा ये जाना है कि जो वास्तव में सर्जक हैं, उनकी आलोचना हुई कि नहीं? कहा यह जाता है कि आलोचना लिखी नहीं जा रही है, मैं कहता हूँ कि वे रचनाकार कितने हैं जिन पर लिखा जाए? सभी जो रचनाकार हैं वे वास्तव में रचनाकार नहीं हैं। इसी तरह सभी आलोचक लिखने वाले आलोचक नहीं हैं।'

कई बार बड़े लेखक को यह शिकायत होती है कि उसकी कोई आलोचना ही नहीं होती। यही बात भवभूति ने भी कही थी लेकिन उसने फिर खुद ही लिखा- कोई जरूरी नहीं कि लोगों का मूल्यांकन उनके जीवनकाल में ही हो। कबीर कितने सौ बरसों तक अपरिचित रहे। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उन पर लिखा तो वे प्रकाश में आए। रामचन्द्र शुक्ल ने तो उन्हें सधुक्कड़ी भाषा का कवि कहकर टाल ही दिया था। यह आलोचक की भी सीमा होती है। एक आलोचक कितनी खोज करेगा? एक दो छिपी हुई प्रतिभाओं की खोज कर दे तो बहुत होता है। जैसे शुक्लजी ने जायसी, सूर को खोजा है। उन्होंने तुलसी को विशिष्ट व अद्वितीय बनाया। उनके इतिहास में पचासों कवियों/रचनाकारों पर उनकी टिप्पणी है। वह बहुत महत्वपूर्ण है लेकिन उनकी खोज जायसी, सूर हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसी प्रकार कबीर का संधान किया तो रामविलास शर्मा ने निराला का!

इतनी सारी बातचीत ने श्रोत्रियजी को थका-सा दिया था। उधर गाजियाबाद की हमारी मंजिल करीब आती जा रही थी जहां थोड़ी देर मेरे आवास पर उन्हें मेरी धर्मपत्नी का आतिथ्य स्वीकार करके वसुंधरा के लिए रवाना हो जाना था। श्रीमती श्रोत्रिय पूरी बातचीत के दौरान उत्साहित रहीं। श्रोत्रियजी बाईपास सर्जरी के बाद पहली बार किसी समारोह के लिए इतनी दूर बाहर निकलकर आए थे। सड़क मार्ग से इस तरह चलते हुए मेरा यह पहला साक्षात्कार था और संभवतः श्रोत्रियजी का भी। मैं अपने इस सचल साक्षात्कार से पूरी तरह संतुष्ट था इसलिए भी कि बातचीत की तल्लीनता में सड़क के गड्ढों का पता ही नहीं चल पाया। मुझे लगता है कि साहित्य या ऐसी ही दूसरी अच्छी चीजों से जुड़ने पर जीवन के रास्ते में आने वाले गड्ढों का भी पता नहीं चलता और जीवन की यात्रा ज्यादा सरल, सुगम, आनंददायक तथा सार्थक बन जाती है।

## लेखक की पॉलिटिक्स उसके लेखन में दर्ज रहती है

### विजय बहादुर सिंह

शीर्षस्थ आलोचक विजय बहादुर सिंह एवं वरिष्ठ कथाकार दूधनाथ सिंह साहित्य की दुनिया के दो बड़े सितारे हैं। इन दो मित्रों के बीच साहित्य को मध्य में रखकर हुआ यह आत्मीय संवाद पाठकों को न सिर्फ रुचिकर लगेगा बल्कि एक आलोचक एवं एक कथाकार की दुनिया से भी परिचित कराएगा कि वे साहित्य को लेकर क्या सोचते हैं?

मैं बिस्तर पर ही था, जब दूधनाथ भाई का भोपाल से फोन आया। चोंगा उठाते ही उसकी आवाज सुनाई दी- 'कौन, विजय बोल रहे हो?' तबियत कैसी है तुम्हारी?' मेरे यह कहने पर कि धीरे-धीरे ठीक हो रही है, पर हूं तो अभी बिस्तर पर ही; बिना रुके उन्होंने इत्तला दी, 'कल आ रहा हूं।' दूसरे दिन मैं दिन भर इंतजार में था कि अब नहीं तो तब दूधनाथ भाई आते ही होंगे पर किसी कारण से उनका आना नहीं हो पाया। मैंने भी बात को आई-गई मान लिया। तबीयत कुछ ठीक हुई तो एक दोस्त की घरेलू परेशानियों के चलते दिल्ली जाना पड़ा। लौटा तो चिट्ठियां, जो बिस्तर पर मेरे लिए रखी हुई थीं, मोटे पीले कागज के एक चौकोर टुकड़े पर संदेश लिखा हुआ मिला- 'अभी घूम-घाम कर आता हूं। दूधनाथ सिंह'। राजू से पूछा तो पता लगा पिछली शाम को कोई दरवाजे से डाल गया था। मैंने आपकी जानकारी के लिए इसे भी चिट्ठियों में रख दिया है पर शाम के बाद देर रात तक कोई भी नहीं आया। मैंने सहज ही अनुमान लगा लिया कि दूधनाथ भाई मुझे न पाकर वापस लौट गए होंगे। यहां उन्हें बताता भी कौन कि मैं कहां गया हूं और कब लौटूंगा। शलभ अलग रहने लगे हैं। सविता भी भोपाल चली गई हैं, दो-ढाई साल से।

सुबह मालवा से उतरा था। चाय पीकर, नहा-धोकर कॉलेज चला गया था। वहीं से सीधे दुर्गानगर। शलभ आजकल वहीं रहने लगे हैं। एक पूरा फ्लैट लेकर।

दुर्गानगर के उस मकान में पहुंचा तो देखा कि वह लड़का जिसका नाम बदलकर हम दोनों ने सिकंदर रख दिया है, चौके में जुटा हुआ है। दिन के साढ़े दस बज रहे थे और शलभ अप्रत्याशित रूप से रजाई ओढ़े लेटा था। मेरी आहट पाते ही उसने रजाई मुंह पर से हटा दिया। उसे देखते ही समझ गया कि रतजगा हुआ है। मैं बैठ भी नहीं पाया था कि उसने कहना शुरू किया- 'दूधनाथ भाई तुम्हें न पाकर इधर आ गए थे। हुआ यह कि नरेंद्र गौड़ उन्हें लेकर नरेंद्र जैन के घर की तरफ बढ़ रहे थे, तभी दूधनाथ भाई को याद आया कि यहीं कहीं मैं रहता हूं। पूछने पर पता लग गया और वे आ गए। सुबह ही वो दक्षिण एक्सप्रेस से भोपाल लौटे। मैंने कहा- 'तुम्हें मालूम तो था कि

मैं आज ही मालवा से लौटने वाला हूँ।' उसने लापरवाही से जवाब दिया- 'मैं सोचता था तुम शाम को लौटोगे।' तब तक कुर्सी खींचकर मैं उसके बिस्तर से सटी मेज के पास बैठ गया। मन कुछ-कुछ खीझ में रहा पर करता भी क्या। अब तक तो दूधनाथ भाई भोपाल पहुंच चुके होंगे।

धीरे-धीरे उसने अपने पांवों पर पड़ी रजाई भी हटा दी और उठकर बैठ गया। कहा- 'रात में दूधनाथ भाई मेरी कविताएं देखते रहे। 'अयोध्या' वाली कविता भी देखी और बार-बार इस पंक्ति को दोहराते रहे-

*मिलता है केवल पिता की मृत्यु का संवाद,  
विवाद बुद्धिजीवियों का,  
स्त्रियों-शूद्रों के प्रति षड्यंत्र, मिलती है आत्मवंचना,  
एकाकीपन का दुःख,  
मिलता है आत्महनन,  
अयोध्या वापस लौटने का कोई मतलब नहीं है।*

मैं देख रहा था, उसकी थकी हुई पतली उंगलियां बार-बार इन्हीं पंक्तियों पर फिर रही थीं, डायरी के उस खुले पन्ने पर।

मैंने कहा- 'यह तो राम की जिंदगी का सबसे करुण और मार्मिक पक्ष है। यही राम को राम भी बनाता है।' वह देर तक उसी कविता पर निगाह गड़ाए सोचता रहा। मैं उस कविता को तिवारा पढ़ रहा था। वह जो अशोक सिंघल, अडवाणी और ऋतंभरा की अयोध्या है, इससे अलग एक और अयोध्या जिसे हम पीढ़ी-दर-पीढ़ी जाते आए हैं, अपने राम के मार्फत। वही राम निष्कासित कर दिए गए इस बार, भाजपा, विश्व हिंदू परिषद व बजरंग दल द्वारा इस बार कैकेयी और मंधरा नहीं, कुछ और ढंग के लोग उनके वनवास का कारण बने। इसी बात को लेकर हम सब चिंतित हैं। शलभ बहुत गहरे ढंग से परेशान था। कविता में यह विषाद सघन हो उठा है। कठिन दुःख-बोध से पैदा हुई उदासी, जो कुछ देर के लिए किसी भी आदमी को वीतरागी बना देती है। उसके कोमल मन पर इतनी गहरी खरोंचें लग चुकी होती हैं कि पककर वे निरंतर टीसती रहती हैं। उन्हीं की कसक, अनुभवों को प्रकट करने वाले शब्दों में आकर यहां बैठ गई है। इस कविता में भी यह कसक है। शलभ इसे लिखकर भी परेशान था। नहीं लिखता तो और परेशान रहता। लिखने से पहले मैंने उससे यों ही कहा- 'अयोध्या पर तुम चुप ही रहोगे, तो दो ही दिन बाद यह कविता आ गई। मैंने कहा, मुझे डर है कहीं यह कविता भी बुद्धिजीवियों के विवाद में उलझकर न रह जाए।' अयोध्याओं में आजकल और होता क्या है। ढेर-ढेर फाइलों की खेती। जनता के पैसे पर टी.ए./डी.ए. वाले सेमीनार, बहसों, दिल्ली हो या भोपाल। एक राजनीतिक दल वोट कबाड़ने की खातिर एक अध्यादेश पारित करता है, दूसरा वोट कट जाने की चिंता से उसका विरोध। राजनीति का मतलब सिर्फ सत्ता प्राप्ति, और कुछ नहीं।

न जनता, न जन कल्याण, न साध्य-साधन की पवित्रता, न किसी प्रकार की कोई नैतिकता। राष्ट्रीयता का तो अब कोई प्रश्न नहीं बचा? शलभ ने पुरानी अयोध्या को इसी पंक्ति के जरिए जिस तरह नई कर दिया है, वह वही कर सकता था। दो- एक पंक्तियों पर मेरी असहमति थी। मुझे लगता था कविता कहीं-कहीं कुछ-कुछ अपने सब्ज वातावरण से बाहर निकल गई है। उन हिस्सों को हटा

देने से यह बात दूर हो सकती है। पर वह अभी इसे करने पर राजी नहीं। हम दोनों फिर अगली कविता पर आ गए। मैंने देखा डायरी की कुछ कविताओं पर नीली स्याही से क्रॉस के निशान लगे हुए हैं। वह मेरी नजर भांप गया। बोला- 'यह दूधनाथ भाई कर गए हैं, रात में कई बार इन्हीं को पढ़ते रहे। ये निशान जो देख रहे हो वही उतारकर भेजना है। शायद कोई उपयोग करें। देखो उन्हें ये बेटियों वाली कविता बहुत पसंद आई।' मैंने कहा- 'आजकल, यह तुम्हारी पकती उम्र की पहचान बनी हुई है। दुनिया को देखने के लिए अब अपनी नहीं, बेटियों की निगाहों की जरूरत आ पड़ी है उनकी संवेदनाओं का संसार हमसे कहीं अधिक ताजा और नया है। फिर वे हम कवियों और लेखकों की बेटियां अगर हैं तो उनके पास यह सब तो होना ही चाहिए, कम से कम। हो सकता है हम सोच भर पाए हों और वे जी कर बता दें।' वह मेरे चेहरे की ओर ध्यान टिकाए रहा, जैसे मेरे जैसे व्यक्ति के मुंह से यह बात कैसे निकल पा रही है। पर वह खुश भी था कि मेरा वैचारिक साहस दुरुस्त हाल है और मैं सोच पाने की स्थिति में हूं। मैंने कविता पर दुबारा गौर किया तो वे पंक्तियां मुझे भी घेरने लगीं-

छोड़कर चली जाती है पत्नी  
 प्रेमिकाएं चली जाती हैं छोड़कर  
 चले जाते हैं छोड़कर दोस्त-यार सारे के सारे  
 बेटियां हाथ थाम लेती हैं आगे बढ़कर

जवान बेटों की नींद में व्यवधान होता है बाप  
 व्यवधान होता है बहुओं के निजी सुख में  
 अपने अकेलेपन में लहलुहान  
 जीवित व्यवधान होता है पूरे मकान के वुदूद में

व्यवधान को मानकर आशीर्वाद  
 बेटियां सर पर बिठा लेती हैं  
 सजा लेती हैं आँखों में  
 पलकों पर उठा लेती हैं बेटियां  
 सब के सब छोड़कर चले जाते हैं जब

कविता पढ़कर खत्म की तो उसने पूछा- 'कैसी है?' मैंने कहा- 'लगता है अभी तुम इसे एकाध बार और लिखोगे।' उसका कहना था- 'कच्ची तो है। पर कच्चे में कैसी है?' दरअसल वह आश्वस्त हो जाना चाहता था। मैंने कहा- 'आजकल यह तुम्हारा प्रिय विषय है। यों भी तुमने अपनी कविता घर-परिवार से शुरू की थी। तब उन संबंधों की खूबसूरती तुम्हें कवि बनाती थी। अब वे संबंध तुम्हारे कवि को खूबसूरत बनाते रहते हैं।' उसने उत्तर में कुछ कहा नहीं, अगली कविता पढ़ने के लिए पन्ना जरूर पलट दिया। मैं यात्रा की थकान के चलते कुछ उखड़ा-उखड़ा अनुभव कर रहा था। कहा- 'अभी मूड जम नहीं रहा है। लगता है बिखराव है कहीं। यह कह मैंने आहिस्ते से डायरी बंद कर दी। उसने दिल्ली की चर्चा छोड़ दी। मैंने संक्षेप में सब किस्सा सुना दिया।

उसके पास थोड़ी देर और रुककर मैं अपने डेरे वापस लौट आया। दूधनाथ भाई से मिल पाने की कसक सालती रही। सोचा खत लिख दूं कि इस बार जब भी भोपाल आएँ, तुरंत खबर करें, मैं खुद मिलने चला आऊंगा पर सोचता ही रह गया। इसी बीच एक बार भोपाल तो एक बार भतीजी के ब्याह के सिलसिले में गांव जाना पड़ा। लौटा तो राजू ने बताया कि दूधनाथजी का फोन आया था। मैंने बता दिया है कि आप कल तक आ जाएंगे। मैं इंतजार करने लगा कि एक-दो रोज में उनका फोन आएगा। जरूर और दूसरे दिन आ ही गया- 'कौन, विजय बहादुर सिंह बोल रहे हो?' आवाज की खनक और आत्मीयता पहचानते देर नहीं लगी। मैंने कहा- 'हां, भाई साहब। मैं ही बोल रहा हूं।' आप कब आए? बातचीत में पता चला कि वे अभी भोपाल हैं और एकाध रोज में विदिशा आएंगे। मैंने अपना कार्यक्रम बताते हुए कहा- 'कल होशंगाबाद जाऊंगा। न हो तो आप भी साथ चलें। वहीं वे विदिशा आ जाएंगे।' वे उस दिन पहले से कहीं व्यस्त थे। तय हुआ कि लौटते में भोपाल से ही साथ हो लेंगे। हुआ भी यही।

9 मार्च की शाम होशंगाबाद से सदन एक्सप्रेस के लगभग आखिरी डिब्बे से उतरकर भोपाल प्लेटफार्म पर उन्हें ढूंढता आगे बढ़ा तो वे दायां हाथ उठाए आते दिखे। कंधे पर एक हल्के भूरे रंग की खूबसूरत शाल, हल्के किनारे वाली और शांति निकेतन का झोला।

स्लेटी रंग का कत्थाई आभा फेंकता कालरदार कलकल खादी का कुर्ता, धोती और बाटा स्टाइल का पंजाबी जूता। धोती मिल की, कुर्ता खादी का। कंधे का झोला आजकल जहां-तहां बनने और विकने वाला। दूधनाथ भाई का चश्मा और माथा दूर से चमकता है- नाटे कद के बावजूद। अब तो उनके सफेद हो गए नेपोलियन कट बाल भी खूबसूरत लगने लगे हैं। वे चुप रहते हैं तो होंठ यों तो कोई प्रभाव नहीं पैदा करते, पर बोलने लगते हैं तो दूधिया दांतों की पांत अपने उजाले से उन्हें रंग डालती है। प्रणाम करने के बाद उनका हाथ पकड़ मैं उन्हें कंपार्टमेंट में ले आया। ठीक खिड़की वाली सीट पर बैठा था मैं। वे मेरे बगल में आकर बैठ गए। होशंगाबाद से तो डिब्बा लगभग खाली ही था पर भोपाल पहुंचते ही जरूरत से ज्यादा भर गया। इतना कि भीड़ से ऊब सी होने लगी। अब यही आलम बीना तक चलेगा। होशंगाबाद, विदिशा, बासौदा के इतने सारे लोग भोपाल आते-जाते हैं कि इन स्टेशनों के बीच चलने वाली हर गाड़ी लोकल सवारियों से गरुआई रहती है।

बैठते ही हम बातों में इस कदर खो गए कि विदिशा का प्लेटफार्म कब आ गया, पता ही नहीं चला। बीच-बीच में खिड़की पर आकर गिरती छिटपुट बूंदों से थोड़ा-बहुत ध्यान जरूर इधर-उधर होता रहा। बादलों का इंतजार दिसंबर अंत में था तब तो आए नहीं। आज तीन मार्च है तो अनचाहे आदमी की तरह आकर आसमान में जम गए हैं। बेवक्त आने वाले आदमी की तरह इन्हें भी क्या मेहमानी दी जाए। दूधनाथ भाई रास्ते भर अपनी बेटी अनुपमा के विवाह को लेकर मुझे बताते रहे। एक तो राजपूत, फिर हिंदी की जनवादी सोच का लेखक किन-किन रास्तों से होकर गुजरता है या उसे कैसी-कैसी अनुभव की गलियों से होकर निकलना पड़ता है। किस्से में सब मुखसर में भले ही कहा गया हो, पर था सब कुछ।

गाड़ी प्लेटफार्म पर लगी तो हम दोनों ने अपने-अपने झोले कंधों पर डाल उतरने वालों की कतार में खड़े हो गए। प्लेटफार्म से बाहर निकल मैंने अपना स्कूटर निकाला, जो सुविधा के ख्याल से यहीं रेल थाने के कैंपस में पिछवाड़े की तरफ रख दिया था। स्कूटर स्टार्ट करते ही मैंने पूछा- 'खाने से

पहले क्या लेंगे आप?’ उन्होंने कहा- ‘नहीं। आज कुछ नहीं। तबियत बिल्कुल भरी हुई है। बस सादा खाना।’ मैंने कहा- ‘यह तो चलेगा नहीं। आपको कुछ न कुछ तो लेना ही पड़ेगा।’ तो वे बियर पर राजी हुए। मैं उनके साथ ही दुकान गया और बियर खरीदते हुए घर चला आया। असमय बारिश के चलते रास्ता किचपिचा हो गया था। स्कूटर का पहिया बार-बार फिसल रहा था। टेलीफोन वालों ने अंडरग्राउंड लाइन डालने के क्रम में जमीन को इतना खोद डाला है कि सड़क मिट्टी ही मिट्टी से भर गई है। दो-तीन जगह तो हम दोनों स्कूटर पर लडखड़ाए और गिरते-गिरते बचे।

घर पहुंच सबसे पहले कपड़े उतार दूधनाथ भाई लुंगी में आ गए। मैंने उनसे पूछा- ‘क्या खाएंगे?’ उन्होंने कहा- ‘कुछ भी, जो सहजता से बन जाए। मैं तो तुमसे बात करने आया हूँ। तुम बीमार थे तो आना चाहकर भी नहीं आ सका।’ मन को यह बात कचोटती थी। मैंने उन्हें दलिया की खिचड़ी बनाकर खिलाने का प्रलोभन दिया। हम पूरबिया लोगों का मूड दलिया का नाम सुनते ही उखड़ जाता है। दूधनाथ भाई प्रस्ताव सुनकर गंभीर हो गए पर दलिया के बारे में काफी तर्क देकर मैंने उन्हें राजी कर लिया। फिर यह भी कि एक बार कुकर में चढ़ा देने पर दोनों निश्चिंत होकर बात कर सकेंगे और जब मूड होगा परस कर खा सकेंगे। शायद मेरी असुविधाओं का खयाल कर ही वे राजी हुए। मैंने तैयारी शुरू कर दी। दस-पंद्रह मिनट में गाजर, पत्तागोभी, आलू, लहसुन, प्याज, धनिया सब तैयार करके छिलका मूंग के साथ देशी घी और जीरे के तड़के से बघार दे दिया। थोड़ी-थोड़ी देर बाद उसे उलटता-पलटता रहा। भुन जाने पर नमक, हल्दी और पानी डालने के बाद एक-दो इलायची, लौंग और दालचीनी के टुकड़े डाल, कुकुर बंद कर मैं किचन से बीच वाले कमरे में चला आया जहां वे बैठे थे।

दूधनाथ भाई बिस्तर पर पालथी मारे जनसत्ता में छपे प्रधानमंत्री नरसिम्हा राव के बेटे के आर्थिक घपले का समाचार पढ़ रहे थे। मेरे किचन से लौटते ही उन्होंने कहा- ‘यह राव अयोध्या मसले में तो बच गया पर अब लगता है इस घपले में चला ही जाएगा।’ मैंने कहा- ‘मुझे तो यह आदमी सारी सज्जनता के बावजूद भारी घपलेबाज लगता है। या तो यह कायर है या जबरदस्त घाघ।’ वे मुझे सुनते रहे। बोले कुछ नहीं। मैंने कहा- ‘क्या नीचे बैठा जाए?’ वे उठे और उतर कर चौपतकर रखे कंबल और उस पर डाले गए बटिक के चादर पर बैठ गए। मैं उनके ठीक सामने अपनी जगह ऊनी आसनी पर बैठा। शाम काफी ठंडी हो गई थी। उन्होंने कहा- ‘उस पर ठंड तो नहीं लगेगी तुम्हें?’ मैंने कहा- ‘नहीं। यह ऊनी है। जाड़े भर इसी पर तो हम लोग बैठते हैं।’ गिलास पहले से लगाकर रख लिए थे। प्लेट पोंछकर मैंने उस पर भुनी मूंग डाल दी। मक्खन के टुकड़े काटकर रख दिए। प्याज और गाजर तो पहले ही छील-काटकर रख लिए थे। अमरूद के लिए वे मना कर चुके थे। ‘पर मैं तो कभी भी खा लेता हूँ अमरूद।’ मैंने बताया। फिर भी उन्होंने हामी नहीं भरी, बल्कि मुंह बिचकाकर अनिच्छा ही जताई। कहा- ‘मुझे तो रात को अमरूद खाने से जुकाम हो जाता है।’ मैंने उनके लिए बोतल का ढक्कन खोला। खोलते ही बोतल कुछ इस तरह से हिल गई कि ढक्कन के हटते ही फौव्वारा-सा छूट पड़ा। बोले- ‘लगता है, तुम्हारा अभ्यास नहीं है।’ मैंने अपनी दक्षता साबित करने के खयाल से गिलास टेढ़ा कर बोतल का मुंह उसकी कोर से सटाकर ढालना शुरू किया तो उन्हें लगा कि अभ्यास तो है, पर कुछ जल्दबाजी के चलते यह चूक हो गई। उनका गिलास भरकर मैंने अपने लिए मुगल मोनार्क की बोतल निकाली। यों भी मुझे बियर परेशान करती है। कव्हर को



देखकर समझने की कोशिश करते रहे कि वह कितना खूबसूरत है। बोटल फिर हाथ में ले देखा कि क्वालिटी के बारे में लिखा क्या-क्या है। हम दोनों के गिलास अठ्ठाइस साल बाद के संबंधों में पहली बार टकराए थे। कई-कई मुलाकातों के बावजूद मैं उन्हें बड़े भाई का आदर देता रहा और वे भी उसी मर्यादा से मुझ पर स्नेह बिंदु छिड़कते रहे। आज हम दोनों संबंधों के एक और नए रास्ते पर कदम रख रहे थे।

उन्होंने पहले ही सिप के बाद कहना शुरू किया- 'मैं भोपाल के लोगों के बीच बैठता हूँ तो स्थानीय पॉलिटिक्स के बारे में न तो किसी टिप्पणी में रुचि लेता हूँ, न भागीदारी करता हूँ। मैंने कह भी दिया है कि इन बातों में मेरी कोई दिलचस्पी नहीं है। पर उस बार जब विदिशा आया और तुम नहीं मिल पाए तो मैं नरेंद्र गौड़ के साथ नरेंद्र जैन के घर की ओर बढ़ने लगा तभी दुर्गानगर की एक दुकान पर शलभ के बारे में पता चल गया। फिर तो पूरी रात उसके साथ लगभग जाकर ही गुजार दी। वह उस दिन कुछ ज्यादा ही भावुक हो गया था। वो कौन लड़का है- अखिलेश। दांगी।' मैंने कहा- 'अखिलेश यादव और विजय दांगी।' 'हां- हां! उन्हीं में से ही एक किसी को बुलाकर उसने कहा- जाओ और उम्दा मुर्गा ले आओ। शराब तो थी ही। फिर नरेंद्र जैन भी वहीं आ गए। रात भर उसकी कविताएं सुनता रहा। थोड़ी-थोड़ी देर में मेरे कंधे पर अपना सिर रखकर वह रोता रहा। मैं समझ रहा था कि इन दिनों भीतर से वह कितना आहत और कुंठित है इसीलिए अजनबियों के बीच आक्रामक होते उसे देर नहीं लगती। वहां भोपाल लौटा तो लोगों ने कहा कि विदिशा ट्रिप कैसी रही? मैंने कहा, विजय तो मिले नहीं। शलभ मिल गया था। उसी के साथ रुका तो राजेश जोशी ने कहा- 'अपने को निराला से बड़ा कवि साबित कर दिया होगा।' इस कहने में जो व्यंग्य था, वह समझ में आ रहा था। मैंने इसका जवाब दूसरे ढंग से दिया। कहा- 'मैं उसे कलकत्ता से जानता हूँ। वह कब क्या कहेगा, क्यों कहेगा, इस बारे में मैं किसी भ्रम में नहीं रहता। पर एक बात जरूर है कि वह एक मेजर पोयट के रूप में उभर रहा है अगर बच गया और कविता लिखता रहा तो वह हमारा अगला मेजर कवि होगा। मेरी इस बात पर सभी चुप थे। किसी ने कुछ भी नहीं कहा। बात को मोड़ देते हुए उन्होंने इलाहाबाद के नौजवान कवियों के बीच घटा एक वाक्या सुनाया- 'शलभ ने अपनी कविताएं डाक से भेज दी थी। मैंने उसका नाम लिए बगैर वो कविताएं उनके बीच पढ़ीं। बोधिसत्व, अनिल, धीरेंद्र सब थे, मार्कण्डेय भाई भी। कहने लगे- 'ये तो अद्भुत कवि है। कौन है यह?' मैंने कहा- 'आप लोग ही बताएं, कौन हो सकता है?' तो वे सब अंदाजते ही रहे, बता कोई नहीं पाया। मैंने जब शलभ का नाम लिया तो सबके सब चकित रह गए। उन्हें अनुभव हुआ कि शलभ कितना आगे है अपनी संवेदना-शिल्प और जीवन-बोध में। 'विजय!' कहकर वे मेरी तरफ देखते हुए जैसे मुग्धावस्था में आ गए। वो विवेकानंद वाली कविता है न-

*जहाज रुका हुआ है*

*इस रुके हुए जहाज में*

*तुम्हें कैसा लग रहा है विवेकानंद*

*गुरुदेव के गले का कैंसर कैसा है?*

पंक्तियां याद करते हुए वे भाव-विभोर से हो गए- 'क्या बात है!' कहां से वह चीजों को देखता है और कितनी गहरी आत्मीयता से प्रकट कर देता है। तो जानते हो, मार्कण्डेय भाई ने आखिर में

क्या कहा- 'ये पंद्रह कविताएं 'कथा' में जाएंगी। शलभ को लिख दो कि कहीं और न भेजे। फिर कुछ रुककर दूधनाथ भाई ने मुझसे पूछा- 'सुनो! मार्कण्डेय की चिट्ठी आई या नहीं? वैसे वे बहुत लद्दड़ हैं चिट्ठी लिखने में।' मैंने कहा- 'नहीं। मेरे पास भी आई है, और शलभ के नाम भी पर मैंने उसे खोला नहीं। अब खोल देता हूं, आप पढ़ लें। मार्कण्डेय भाई ने शलभ को लिखा है। उन्होंने पढ़ा-

प्रिय भाई,

आपकी कविताएँ दूधनाथ सिंह द्वारा यथा समय मिल गई थीं। हम लोगों ने कथा में एक ही कवि की अनेक कविताएँ छापने की एक योजना बनाई है, और आपकी कविताएँ 'कथा' के इसी अंक में छपेंगी। बस निवेदन है कि इस बीच इन्हें अन्यत्र छपने के लिए न भेजें।

आपका स्वास्थ्य ठीक नहीं चल रहा है। उस पर थोड़ा ध्यान दें। हमारी आकांक्षा है कि आप स्वस्थ रहें।

अपना समाचार जरूर दें।

आपका मार्कण्डेय

चिट्ठी पढ़ एक ओर रख दिया। कहने लगे- 'उस रात वह सोया ही नहीं। मुश्किल से दो या ढाई घंटे सोया होगा और साढ़े छः पर ही उठ बैठा। मैंने देखा कि खूब खांस रहा है और बीड़ी भी पीता जा रहा है, पर फुर्ती इतनी कि हैंडपंप चलाकर उसने पूरी बाल्टी मेरे लिए भर दी और तौलिया बाथरूम में रख कहा- 'वहां पानी रख दिया है। कहिए तो थोड़ा पानी नहाने के लिए गर्म भी कर दूं।' मैंने कहा- 'नहीं। नहाऊंगा तो अब भोपाल में ही। झोले में न अतिरिक्त कपड़े हैं न जरूरत का सामान। वो तो नरेंद्र गौड़ ने कहा और मैं बगैर किसी तैयारी के चला आया। बहरहाल तब तक नरेंद्र गौड़ भी आ गया और हम सदन पकड़ भोपाल लौट गए। पर मैंने महसूस किया कि तबियत उसकी काफी ढीली रहती है। अगर इतनी जीवतता न होती तो फिर उसका चलना मुश्किल था। पर उसका जिंदा रहना और स्वस्थ रहना बेहद जरूरी है। यही बात मैंने भोपाल वालों से कही कि शलभ अगर बचा ले गया खुद को तो वह हमारा अगला मेजर पोयट होगा, वैसी ऊर्जा, कैसी जीवन-दृष्टि है किसी के पास? मैंने डंके की चोट पर कह दिया तो सब खामोश रह गए।

इसी क्रम में उन्होंने यह जानने की कोशिश की कि इतनी प्रगाढ़ता और पुरानी दोस्ती के बाद हम दोनों अलग-अलग क्यों रहने लगे? यह एक बेहद टेढ़ा और उदासी में गर्त कर देने वाला सवाल था, पर जिसने पूछा था, वह हमीं में से एक हमारा शेर था। ऐसे सवालों का जवाब देने में दिक्कत होती है पर तब-जब ये दूरी रखकर पूछे गए हों। दूधनाथ भाई की बातचीत दूरी पर खड़े आदमी की नहीं, अपने ही दायरे के एक और आदमी की थी, जो किसी तकलीफदेह फैसले पर पहुंच लेने के बाद भी, कम से कम मन से तो उसे नहीं ही मान पाता। अधिक सही यह कि मान ही नहीं पाता। हमारी और शलभ की अब भी क्या यही स्थिति नहीं है। और तो और, मेरी और सविता की भी। हम तीनों एक दूसरे के प्रतिसंस्करण हैं। शलभ का तो सविता के बारे में पेट वाक्य है- 'सविता मेरा नामी संस्करण है।' यह बात मुझे यों कहता कि मैं जिस तरह बगैर किसी शर्त के उसे चाहता और प्यार करता हूं, सविता को भी करता रहूं क्योंकि वह रेयर है। मेरी ही तरह। फिर तर्क देकर वह मुझे समझाता है- 'देखो, वह मन से कितनी निश्चल और पवित्र है। चालाक होती तो हम भूल भी जाते। नफरत भी करते। पर वह यह सब नहीं है।' उसको सुनते-सुनते मेरे चेहरे पर खुशी किंतु

होठों पर मुस्कान का ऐसा अंदाज उभरता जैसे मैं उसका मजा ले रहा हूँ। वह भांप लेता और कहता- 'तो क्या तुम इन बातों को झूठ मानते हो?' मैं हँसकर उत्तर देता- 'नहीं! देख रहा हूँ कि सविता का पक्ष समर्थन करने के बहाने तुम अपना भी करते चल रहे हो।' तो वह किंचित् तैश में आ जाता- 'तो क्या मैं तुम्हें चालाक समझ में आता हूँ। मुझे कहना ही पड़ता- 'नहीं'। चालाक कौन कह रहा है पर ऐसे भोले भी नहीं।' वह नरम पड़ जाता और हम फिर किसी बात में लग जाते।

दूधनाथ भाई जब यह पूछ रहे थे तब सिलसिलेवार जवाब देने से बात बनती भी नहीं इसलिए मैंने उन्हें इसी तरह बता दिया। मैंने यह भी जोड़ दिया कि शलभ की भावुकता इन दिनों कुछ ज्यादा ही बढ़ गई है और उसे संभाल पाना अब मेरे वश के बाहर हो रहा है। इसलिए तो हमने अलग रहकर एक-दूसरे को प्यार करते रहना जारी रखा है। फिर हम लोगों को समझने की कोशिश भला कोई तीसरा या चौथा क्यों करेगा। यह कोशिश भी किसी अद्वितीय सघनता से पैदा होती है। आत्मीय संबंधों की यह एक ऐसी पगडंडी है जहां आदमी को मजबूरन सोचना पड़ जाता है कि आखिरी वक्त में खाक मुसलमां होंगे। हम दोनों का तो अब यह आखिरी वक्त जैसा ही चल रहा है। शलभ पचपनवें और मैं तिरपनवें में हूँ। सत्ताइस-अठ्ठाइस साल हो गए हमारी दोस्ती को। उसका पहला संस्करण 'कल सुबह होने से पहले' नहीं छपा था, जब हम करीब आए थे। मुझे उसके गीतों ने अपने बाजू में ले लिया था- 'मिले लगते हैं, रेल की दो पटरियों से कभी हम तुम।' 'ओ तेरा होना/तेरा होना जैसे टेसू की पलई पर फागुन का धाम।' 'या 'नन्हें बच्चे का कठघोड़े पर बैठे/किलक-किलक खींचना लगाम/' या 'धरे हथेली गाल पर/सोच रहा हूँ कल की बातें/गए वर्ष की कुछ तस्वीरें झूल रही दीवार पर।' मैं उसे पढ़ते-पढ़ते अपनी स्मृतियों में खो जाता और मेरी यादों में वह पूरा अवध अंचल अपनी समूची खूबसूरती के साथ उभरने लगता, जिसे हम काम-धंधों और नौकरी की मजबूरी के चलते काफी पीछे छोड़ आए थे। पर वह छूटा भी कहां था। वह तो एक चुटकी रंग और गुलाल बन, पीले लिफाफों के कपड़े पहन, हर साल हमारे पास चला आता। यह शलभ था, जो कविता के बहाने मुझे उस छूटे हुए जीवन के पास ले जा खड़ा करता था, जो मेरे बचपन का था।

नई कविता पढ़ना सीख ही रहा था, जब शलभ के ये नए गीत बीच में आकर खड़े हो गए। नई कविता ने मुझमें एक खास प्रकार की बौद्धिकता पैदा करने की कोशिश शुरू कर दी थी। धीरे-धीरे मैं अपनी पुश्तैनी जमीन से हटता जा रहा था। नई कविता में दिल्ली और इलाहाबाद की सिविल लाइन वाला नागर समाज तो था, पर खेतों-खलिहानों वाला गांव बिलकुल नहीं। वहां शहरी पाकों के लान की हरी घास थी, फूल, मोमबत्तियां, टूटे सपने थे, बंद कमरों में कैद रोने वाले नौजवान कुछ बहुत विच्छिन्न, कटा-कटा जीवन-प्रसंग था पर वह सामूहिकता और पारिवारिकता नहीं, जो अब भी हमारे संस्कारों में कहीं मौजूद थी। हम कुछ-कुछ साम्राज्यवादी ढंग से आधुनिक होने की तेज प्रक्रिया से जुड़ गए थे। वहां फ्रायड और मार्क्स तो प्रासंगिक और सारवान जान पड़ते थे, किंतु गांधी नहीं। बुद्ध और विवेकानंद तो एकदम नहीं। असल में यह नेहरू शासन का चरम काल था जो नई कविता में आया। बासठ के चीनी आक्रमण के बाद नेहरू की वह छवि अकस्मात् मलिन पड़ती गई। यही वक्त था जब शलभ और उसके कई साथी-उमाकांत मालवीय, रवीन्द्र भ्रमर, नईम, ओम प्रभाकर, नरेश सक्सेना आदि एक और जीवन-बोध लेकर आए, जो कथित बौद्धिकता से किंचित् भिन्न और ज्यादातर गंवई या कस्बाई था। महानगरीय अथवा नगरीय जीवन पद्धति का संत्रास, मध्यवर्गीय

कुंठाएं, अजनबीपन और कलावादी रुझानें उसमें लगभग नदारद थीं। कविता केवल सोच नहीं रही थी, 'फील' भी कर रही थी। अनुभव करने का यह अंदाज प्रायोजित नहीं सहज था। पढ़ने वाला भी अगर स्मृतिहीन नहीं हो चुका है तो इन अनुभवों की तस्दीक करेगा जरूर। आधुनिक होने के दौर का यह एक ऐसा मध्य बिंदु था, जहां दोनों तरफ देखकर हम आने वाले कल के बारे में विचार कर सकते थे। शलभ ने मुझे यहीं पकड़ा और मैं उसके साथ होता चला गया।

वह जब युयुत्सावाद का प्रवर्तक बना, तब उसके साथ खड़े होने की मेरी अपनी कई हिचकिचाहटें थीं। पर 'अतिरिक्त पुरुष' की कविताओं ने मुझे यह समझने का भरपूर मौका दिया कि चीजों को देखने, उनके बारे में अनुभव करने की एक क्रांतिकारी भारतीय दृष्टि भी हो सकती है। हमें इसकी पुनर्खोज और पुनर्चना करने की तैयारी में जुट जाना चाहिए। इधर निगाह गई तो समूचा शांति निकेतन, रवींद्रनाथ छायावाद और गांधी, उनके साथ 'युयुत्सा' के सत्य को वरण करने वाली गीता को याद आई। शलभ लिखता गया और मैं उसकी व्याख्या समझने में लगा रहा। बाद में कुछ पारिवारिक उलझनें और दुर्घटनाएं हुईं और वह अचानक कलकत्ता छोड़ विदिशा आ गया। मैं उसे बीच-बीच में जबरन कलकत्ता ले जाता। पर कलकत्तिया लेखकों में एक असंगत प्रतिद्वंद्विता का भाव उसके प्रति बना ही रहा और हम दोनों ने तब साथ-साथ रह यह समझा कि कलकत्तिया दोस्तों के लिए कलकत्ता निर्द्वंद्व जमीन के रूप में छोड़ देना चाहिए। कुमारेंद्रजी तो पहले ही छोड़ चुके थे। कलकत्ता से लौटे राजकमल तो दुनिया ही छोड़कर चले गए थे। बाद में रमेश बाबू (चौरंगी वार्ता के संपादक और साहित्य मर्मज्ञ) ने भी कूच कर दिया। बचे-खुचे लोगों में छविनाथ मिश्र, अवधनारायण सिंह, इसराइल, सकलदीप सिंह, शंकर, नवल, आलोक शर्मा, अलख नारायण। इन सारे किराएदारों के लिए हमने अपना कलकत्ता खाली कर दिया। अब ये वहां बस पाए या नहीं, वे ही जानें। कलकत्ता की याद आते ही याद आए, बालमुकुन्द गुप्त, आचार्य शिवपूजन सहाय, महाकवि निराला और परमानंद शर्मा के साथ-साथ और बाद के भी कई जरूरी नाम- जैसे कि विष्णुकांत शास्त्री कृष्ण बिहारी मिश्र याद आए।

मैं जब दूधनाथ भाई को इस ब्यौरे में ले जा रहा था, वे अपने कलकत्तिया दिनों में कहीं खो से गए। बलिया से चलकर आया एक नौजवान रचनाकार, जो अब अखाड़े की कुश्ती मारने के लिए इलाहाबाद लौट चुका था। अचानक उनकी चुप्पी टूटी और उन्होंने मुझे समझाइश सी देते हुए कहा- 'असल बात यह है शलभ का फ्रस्टेशन अब कुछ अधिक ही बढ़ गया है। काम जितना किया उसकी अनदेखी हुई और फिर उसने निपट लेखक का जीवन जीते हुए जब कुछ भी और नहीं किया तो उस पर तकलीफ तो होनी ही है। अब उसके पास और भी कम समय है। उसे मालूम है वह आसमान-पाताल एक कर सकता है पर जो परिस्थितियां चारों ओर हैं, चारों ओर की हैं, वे उसे देर तक जिंदा रहकर काम भी करने देंगी, कहना मुश्किल है। हम लोगों ने तो अपने घर-परिवार के लिए कुछ न कुछ कर लिया है। वह तो बस यही करता रह गया। फिर उसे उसके ड्यू का न मिलना क्षुब्ध तो करेगा ही।' मैं दूधनाथ भाई को सुनता रहा और शलभ के प्रति अपने नए व्यवहारों के बारे में भी सोचता रहा। आगे उन्होंने इसी सिलसिले में नीलकांत का भी उदाहरण दिया। किस तरह से बाबू राजेंद्र प्रताप सिंह यानी लेखक नीलकांत ने दर्शनशास्त्र से प्रथम श्रेणी में इलाहाबाद विश्वविद्यालय से एम.ए. कर पार्टी का काम करने को प्राथमिकता दी। किसी सुविधा और प्रतिष्ठा

वाली नौकरी में वे नहीं गए। अगर वे चाहते सैकड़ों नौकरियां उन्हें मिल सकती थीं पर नहीं चाहा। अब जो परिस्थितियां हैं, उनमें कभी-कभी यह पीड़ा तो होती ही है कि न पत्नी के लिए कुछ कर पाए, न बेटे के लिए। हिंदी का लेखक होकर भी जो मिला है, जो मिलता है, उसे निराला जैसे लोग 'सरोज स्मृति' में लिख ही गए हैं- 'यह हिंदी का स्नेहोपहार... 'दुःख ही जीवन की कथा रही...'. हिंदी का मसिजीवी लेखक आज भी इस गाथा को जी रहा है।..'

'तो क्या आदमी नार्मल रह जाएगा इसमें?' उन्होंने मेरी ओर सवाल फेंकते हुए पूछा। मैंने कहा- 'नहीं!' पर ऐसे लेखक दोस्तों को सम्हालने वाले जो दो-एक व्यवस्थित लोग हैं, अगर उन्हें भी अव्यवस्थित कर दिया जाए तो क्या दोनों सड़क पर नहीं आ जाएंगे? कहीं न कहीं तो अराजकता को लिमिटेड करना पड़ेगा। अब शलभ ने अगर रात के दस बजे से फफकना शुरू किया, तो बारह भी बज सकते हैं, दो भी। मुझे तो कालेज जाना ही जाना है सुबह। वहां क्लास में अलर्ट रहकर पढ़ाना भी है। अगर रात ऐसी गुजारी तो क्लास में जम्हाइयों के अलावा और क्या किया जा सकेगा। फिर मैं तो यह मानता हूं छात्र-दर्शक भी होते हैं, श्रोता भी। उन्हें लुभाना भी पड़ता है, मोहित भी किया जाता है और प्रभावित तो करना ही पड़ता है। अध्यापक की ये बुनियादी चुनौतियां हैं। नहीं तो सब बेकार। दिक्कत इस बीच यह होती रही कि कई बार क्लास में मैं उखड़ने-सा लगा। मेरे उच्चारणों का सौंदर्य नष्ट होने लगा। मेरे थॉट (विचार-क्रम) लड़खड़ाने लगे। समझ में तब यही आया कि या तो हम दोनों अपनी-अपनी अति संवेदनाशीलता में भस्म हो जाएं या अलग-अलग रहकर अपनी रचनात्मकता का निखार करें। इसी के चलते अलग-अलग रहना जरूरी हुआ। यद्यपि हमारे अलग होने का ढंग शुरू में बहुत भद्दा और निर्मम था, पर बाद में उसने इस भद्दे को सौम्य और सहज बना लिया। आखिर वह मुझसे दो साल बड़ा है और जब तब ही इस बड़प्पन से इधर-उधर होता है। होता है तो उसकी सजा भी हमें भोगनी पड़ती है। मैंने दूधनाथ भाई को आश्वस्त किया कि हमारे बीच न तो कोई दूरी है, न कोई दरार। एक दूसरे के प्रति सावधानी रखते और एक दूसरे की चिंता करने में हम अब भी पीछे नहीं हैं।

रात काफी हो चुकी थी। खाना प्लेट में परोसा जा चुका था। मैंने उनके सामने सूरन का अचार व जामुन का सिरका भी रख दिया। सूरन का अचार मेरी पहली पत्नी ने गांव से बनाकर भेजा था। दूसरी मुझे आंवले का बनाकर भेजती है जब-तब मन होने पर। दलिया काफी अच्छा बना था। दूधनाथ भाई को रुचा ऐसा लगा। खाना खत्म कर मुंह-हाथ धो लिया तो मैंने पूछा- 'क्या गुड़ लेंगे? गांव से लाया हूं।' उन्होंने अजीब-सा मुंह बनाकर कहा- 'अब इतने बढ़िया अचार के बाद गुड़ क्या? दोनों का कोई काम्बिनेशन नहीं जमता। मैं कुछ भी नहीं लूंगा।' यह पूर्ण तृप्ति के बाद की अनासक्ति थी जो भोग की सारी बातों के प्रति अब अरुचि और अनिच्छा से भरी थी। मैंने देखा यह कहते हुए उनके होंठ ही नहीं पूरा चेहरा वितृष्णा से टेढ़ा हो उठा था। तब मैंने कहा- 'पान वगैरह?' उन्होंने कहा- 'नहीं। अब कुछ नहीं।' मैंने लौंग निकालकर दी। उन्होंने उंगलियों के पोर से उसे बेमन से पकड़ते हुए मुंह में डाल लिया और ड्राइंगरूम वाले बिस्तर के करीब चले गए। मैं भी अपने बिस्तर पर आ गया था।

रात के लगभग चार बजे थे, जब कोई बिल्ली झरोखे से दूधनाथ भाई के कंबल पर धम्म से आ कूदी। मैंने खट से बेड लैंप की स्विच दाबी तो उन्होंने लगभग अजान-सा होकर कंबल के भीतर

से ही पूछा- 'क्या था भाई?' मैंने कहा- 'बिल्ली होगी। चूहों की तलाश में जब-तब कूदा करती है। चूहे मिल पाते हैं या नहीं, वही जाने।' वे फिर जैसे नींद में चले गए पर मैं सो नहीं सका। चार बजे खुली मेरी नींद फिर नहीं लगती। बिस्तर से उठ मैं आंगन में आ गया और कुल्ला कर आंखों को गीली उंगली से पोतास-सा देकर मैं चौके में आ गया। शहद की काली मिर्च की शीशियों से एक खुराक भर दवा बना उसे चाटा। नुस्खा या आयुर्वेद का था जिसे मैंने हरिदास वैद्य के 'चिकित्सा चंद्रोदय' में से लीवर-टॉनिक के रूप में तब ढूंढ निकाला था जब मुझे पीलिया हो गया था। लीवर सिरोसिस है, यह डॉक्टर लोग टटोलकर कहते ही थे तो उपाय यही था कि उठकर सबसे पहले उसी को चुस्त, फुर्त और तरोताजा किया जाए। अब तो जब भी भारीपन हुआ, इस नुस्खे को शुरू करने में देर नहीं लगती मुझे।

सड़कों पर कुछ ज्यादा ही सुनसान होगा और गीली तो वे रोज से कुछ ज्यादा ही होंगी, यही सोचकर घूमने नहीं निकला। सिरहाने पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस से प्रकाशित राहुलजी के लेखों का संग्रह 'विविध प्रसंग' रखा था। उसे पलटने लगा। एकाध पन्ना भी पूरा नहीं हो पाया होगा कि उन्होंने लाइट जलती देख पूछा- 'क्या सोए नहीं?' मैंने कहा- 'नींद ही नहीं आई दुबारा।' 'कितने बजे होंगे?' उनका अगला सवाल था। 'पांच बज रहे हैं,' मैंने कहा। वे फिर चुप हो गए। घूमने जाऊं, न जाऊं, उसी उधेड़बुन में दस-पांच मिनट और गुजरे होंगे कि भीतर से आवाज आई- 'किसी डिस्पलिन को यों ही तोड़ देना ठीक नहीं? नियम की भी अपनी मर्यादा है। यही ख्याल मुझे झट से उठाकर कमरे से बाहर ले गया। मैं अब घूमने के लिए सड़क पर था। लुंगी और कुरते में ही पर आज मैंने दूसरा ही रास्ता चुना। घर से गुरुद्वारे वाला। रोज तो अस्पताल और स्टेशन का चक्कर लगा गुरुद्वारे होकर लौटता था। आज गुरुद्वारे तक के दो चक्कर लगाने के बाद लौटा तो पांच चालीस हो रहे थे। दूधनाथ भाई अभी भी कंबल से मुंह ढांपे पड़े थे। मैंने पूछा- 'क्या चाय बनाई जाए?' उन्होंने लिहाफ के भीतर से जवाब दिया- 'हां बनाओ। दूध जरा कम ही डालना।' मैं चौके में आ गया। फ्रिज से दूध निकालने फिर वापस बीच के कमरे में गया तो देखा वे अपने बिस्तर पर अभी भी ज्यों के त्यों पड़े हैं। मैंने लौटकर चाय छान ली। लिप्टन की ग्रीन लेबल पत्तियों की जानी-पहचानी गंध रोज की तरह रसोईघर में फैल गई थी। छोटा भाई बुद्धदेव इसे मेरे लिए कलकत्ता की कालेज स्ट्रीट मार्केट के सुबोध टी स्टाल से ले आया था। पत्तियां लगभग रही। नीम-गरम पानी में डालते ही चौका लगभग उसकी सुवास से भर उठता है। चाय के दोनों कप उठाकर मैं बाहर के कमरे में चला गया। उनका कम सेंटर टेबल पर रख दिया। वे आहट से भी नहीं उठे तो आवाज लगानी पड़ी- 'उठिए।' चाय ले आया हूं। कंबल ओढ़े ही वे उठ बैठे। उन्होंने दायां हाथ कंबल से बाहर निकाल कप अपने होठों से लगा लिया।

सुबह, आज भी काफी सर्दी थी। रात पाले की तरह ठंडी। टी.वी. ने बताया पिछली रात सबसे ज्यादा सर्दी मध्य प्रदेश के विदिशा जिले में ही थी। मैं अकसर सोचा करता था कि, ग्वालियर काफी ठंडा रहता है। अब अच्छा लगता है यह सुनना कि अपना विदिशा भी कुछ कम सर्द-गर्म नहीं रहता। इतनी तेज ठंड में एक कप चाय से भला क्या होता। मैंने प्रस्ताव किया- 'एकाध कप तो और चलेगी न।' उन्होंने कहा- 'क्या तुम बना रहे हो?' मैंने कहा- 'आप पीएंगे तो बना लूंगा।' 'हां तब बना लो।' एकाध तो चल सकती है।' मैं चौके में आ गया तो वे भी अपनी शाल ओढ़े चौके के बरामदे में आकर खड़े हो गए। मुझे लगा वे यहीं बैठकर पीना चाहते हैं। मैंने दूसरा पीढ़ा (पटा) उठाकर उनकी

ओर खिसका दिया तो वे चप्पल निकालकर मेरे सामने वाले पीढ़े पर उकड़ूँ बैठ गए, जैसे कोई देहाती रईस कभी-कभी बैठता है।

मैं चाय की पत्ती गुनगुने पानी में डालने ही जा रहा था कि कुछ गंभीर होकर किंतु काफी संकोच-सा प्रकट करते हुए उन्होंने कहा... 'यों पूछना चाहिए कि नहीं पर हम लोग कभी-कभी यह सोचते हैं कि जनवादी लेखक संघ के मामले में तुम्हारा रवैया कुछ ठंडा-सा क्यों हो गया है? जरूरी नहीं कि तुम इसका जवाब दो ही पर मन में यह बात आती रहती है। दिल्ली की बैठकों में भी तुम नहीं दिखते और इस बार तो तुम जयपुर वाले राष्ट्रीय सम्मेलन में भी नहीं गए? गए तो हम भी नहीं थे। उसी समय पत्नी बुरी तरह बीमार थीं। मेरे साथ मार्कण्डेय भाई भी उलझ गए थे पर बोधिसत्व वगैरह जा रहे थे तो मैंने कहा था- लिस्ट ले आना। कौन क्या-क्या हुआ? तो देखा कि तुम्हारा नाम ही नहीं है कहीं। तब मैंने उन लोगों से पूछा कि वर्किंग सेक्रेटरीज में मध्य प्रदेश से कौन है, तो पता लगा तुम्हें राजेश (जोशी) से रिप्लेस किया गया है। तुम वर्किंग सेक्रेटरीज में थे न? यह क्यों किया गया, समझ में नहीं आया। क्या तुम संगठन से हट गए?'

एक ही सांस में वे बहुत कुछ कह गए थे। मैंने उचित समझा कि उन्हें सिलसिले से जवाब दूं। जब तक चाय उबलकर महकने लगी थी। छान लेना जरूरी था, नहीं तो तीखी हो जाती। चाय का स्वाद जानने के ख्याल से होठों से लगा लिया। फ्लेवर बिल्कुल मनमाफिक था। मैंने बताना शुरू किया- 'जब जलेस बनाने की पहली बैठक, तब से जनता दल के विधायक रमाशंकर सिंह के बंगले में हुई थी, सुधीश पचौरी और कर्ण सिंह चौहान दिल्ली से आए थे। विदिशा से हम दोनों (शलभ) गए थे। भोपाल से उदय प्रकाश और सोमदत्त को शामिल होना था पर किसी कारण से वे नहीं हुए। विनय दुबे थे। रामप्रकाश तो खैर कर्ता-धर्ता ही थे। कमला प्रसाद, धनंजय वर्मा, भगवत रावत, राजेंद्र शर्मा का तब बड़ा दबदबा था। राजेश जोशी भी तब इसी दल में थे, और बेहद मुखर और सक्रिय। याद है। जब वे जलेस में शामिल होते साथियों के खिलाफ घूम-घूमकर गाली बक रहे थे। मजाक उड़ा रहे थे। पर हम लोग भोपाल में घोषित कर आए कि हम जलेस में हैं, और तब तक रहेंगे जब तक यह किसी राजनैतिक पार्टी की रखैल न बनेगा और इसकी नियति या परिणति किसी मठ में न होगी।

चार-छह रोज बाद उदयप्रकाश ने मिलने पर मुझसे कला परिषद् के दफ्तर में कहा- 'आपने ज्वाइन किया तो हमें बताया तक नहीं।' मैंने कहा- 'यह कोई ऐसी बात तो नहीं थी जिसमें आपसे पूछने या बटे की बारात में साथ ले चलने जैसा कुछ किया जाता। मुझे ठीक लगा, चला गया। आपको भी ठीक लगे तो आ जाइए। इसमें आगे-पीछे या साथ जाने जैसी क्या बात? मैंने यह भी कहा कि आप और सोमदत्त तो वहीं मीटिंग में आने वाले थे, उस दिन, फिर आए क्यों नहीं? लगे हाथ मैंने यह भी कहा- 'सोमदत्त ने तो अखबारों में बयान भी दे दिया कि वे शामिल नहीं हो रहे हैं। इससे लगा कि अभी कुछ असमंजस है आप दोनों में। कुछ हानि-लाभ का सोच-विचार है। हम तो पहुंच गए और शामिल हो गए। बाद में संगठन खूब जोरदार बना। दुर्ग, भिलाई, रायपुर, बिलासपुर, रतलाम, ग्वालियर, कटनी की इकाइयां ताबड़-तोड़ ढंग से उठ खड़ी हुईं। इधर विदिशा, भोपाल इकाई ने भी अपनी ताकत दिखाई। विदिशा इकाई के अध्यक्ष शलभ श्रीराम सिंह बने। भोपाल में शफक तनवीर, विनय दुबे, प्रभाष जोशी, बनाफरचन्द्र सक्रिय हुए। मध्य प्रदेश ने अपना राज्य सम्मेलन धमाके के

साथ किया। जलेस के राष्ट्रीय अध्यक्ष भैरवजी आए। रमेश रंजक, मुकुटबिहारी सरोज, अदम गोंडवी भी आए। धीरे-धीरे राजनीति भी घुसी। पार्टी और गैर पार्टी लेखकों का सवाल उठा। सबसे पहले विश्वेश्वर को लेकर म.प्र.सी.पी.आई.एम. के महासचिव मोतीलाल शर्मा ने मुझे तलब किया। मैं गया तो वे बॉस की मुद्रा में बैठे मिले। विश्वेश्वर के बारे में भिलाई के कामरेड लेखकों की ढेरों शिकायतें उनके पास थीं। मैंने कहा- 'आप पार्टी का कामकाज देखते हैं। वही देखें। मैं लेखक संघ का प्रादेशिक अध्यक्ष हूँ। यह मेरी चिंता में रहने दीजिए कि संगठन कैसे चलेगा और साथी लेखकों के साथ मुझे क्या व्यवहार करना है। मैंने कहने में यह और भी जोड़ा कि- 'पार्टी कैसा काम करती है, इस पर हम कोई टिप्पणी नहीं करते उसी तरह हमारे कामकाज के सुपरविजन की जरूरत आपको शायद नहीं है।' मुझे लगा पार्टी सचिव इस बातचीत को कडुवे घूंट की तरह पी तो गए, पर हजम शायद नहीं ही कर पाए। तब यह कहीं न कहीं छाला बनकर पलता रहा होगा। उसके बाद से मोतीलालजी कार्यक्रमों में जब कभी आते चुपचाप आ पीछे बैठते और उसी तरह उठकर चले भी जाते। शैलेन्द्र शैली तो तब भी मेरी दृष्टि में एक रचनाकार थे, अब भी हैं। उनकी सोच-समझ और काम करने के उनके तरीके मुझे अच्छे लगते हैं। उनकी शालीनता मुझे प्रभावित करती है। अब भी करेगी, अगर शैली बॉस की तरह नहीं होंगे तो।

पर एक और बात जो हुई वह यह कि एकाध मौकों पर लगा कि संगठन पर वे लोग हावी होते जा रहे हैं जो पार्टी सदस्य तो हैं, पर लेखक के रूप में जिनकी कोई खास पहचान नहीं है। बीस लेखक साथी अगर किसी बात पर सहमत भी हों और उसे तय करना चाहें तो नहीं कर सकते, क्योंकि पार्टी से जुड़े सदस्य लेखक उसे पार्टी की निगाह में उपयोग नहीं मानते। ऐसी ही एक घटना मेरे साथ राष्ट्रीय कार्यकारिणी में घटी। मैंने जो प्रस्ताव रखा था, उसका समर्थन करने वाले बीसेक लेखकों में असगर वजाहत, रमेश उपाध्याय, सव्यसाची, रमेश कुन्तल मेघ, मार्कण्डेय आदि थे पर महादेव साहाजी को वह प्रस्ताव किसी कारण से पसंद नहीं था। जब यह देखा गया कि बहुमत प्रस्ताव के साथ है तो मुझे यह सुझाव दिया गया कि 'भोपाल में आयोजन राष्ट्रीय कार्यकारिणी का है। आप मध्य प्रदेश इकाई की ओर से चाहें तो उसे क्रियान्वित कर लें।' मैंने कहा- 'प्रस्ताव राष्ट्रीय सम्मेलन के संदर्भ में किया गया है, राज्य सम्मेलन के नहीं।' तो एकाएक सब चुप हो गए। समर्थक भी फिर कुछ बोल नहीं पाए। मैंने समझ लिया कि संगठन में लोकतंत्र का प्रभाव सिर्फ सांगठनिक स्तर पर ही नहीं, सोच-विचार के स्तर पर भी है। तभी से मैं कुछ-कुछ उदास होता गया। अपनी गुस्सैल और जिद्दी तबीयत के चलते मैं इस उदासी को मिटा नहीं सका। इसी बीच एक और घटना घट गई। एक साथी कवि को श्रीकांत वर्मा पुरस्कार मिला, जिसे उसने जुगाड़ने में दौड़-धूप भी खूब की थी। श्रीकांत चाहे जितने अच्छे कवि रहे हों पर भारत भवन से लेकर दिल्ली तक वामपंथियों के खिलाफ मोर्चा खोले रहा करते थे। उन्हीं के नाम से दिया गया पुरस्कार और उसे कबाड़ने को लालायित रहें कथित वामपंथी- यह मेरी समझ के बाहर की बात तब भी थी, आज भी है। विचारधारा और जीवन-व्यवहार में कुछ तो ताल-मेल होना चाहिए? मैं इस सवाल पर पहले भी टोका था, अब भी यह प्रश्न मुझे परेशान करता है।' दूधनाथ भाई चुप हो सुनते रहे। मैंने अपनी बात जारी रखी- 'हुआ यह कि जिस दिन हमारा राष्ट्रीय सम्मेलन भोपाल में आयोजित होना था, मध्य प्रदेश के लोग मेजबान थे, हमारा साथी वह पुरस्कार लेने ठीक उसी दिन दिल्ली चला गया। तब मैंने इसके खिलाफ 'नया



विकल्प' का संपादकीय लिखना अपना जरूरी दायित्व माना। अंक उसी मौके पर छपकर आया। पहले दिन ही सौ से अधिक प्रतियां उसकी बिक भी गईं। दूसरे दिन अचानक उसकी बिक्री रोक दी गई और अंक स्टाल से उठा दिया गया। एकांत श्रीवास्तव ही स्टॉल पर था। उसने मुझे आकर खबर दी तो जाने कैसा लगा। बाद में दिल्ली से भोपाल तक बमचख मची। ऐसा जान पड़ा, जैसे चोट तो उस कवि को लगी है पर आहत संगठन हुआ है। यही संगठन यह मानने को तैयार था कि यह एक प्रकार का अवसरवाद तो है। पारिभाषिक शब्दावली का इस्तेमाल किया तो 'मध्यवर्गीय लेखक का अंतर्विरोध।' इसी पर दूधनाथ भाई को जलेस स्थापना सम्मेलन दिल्ली 82 का एक किस्सा याद आ गया। उन्होंने दाएं हाथ से मेरे बाएं घुटने पर थाप मारते हुए सुनाया तो हम दोनों खूब हँसे।

एक भोजपुरिया साथी लेखक जो संगठन में महत्वपूर्ण है, उससे उन्होंने पूछा- 'का हो.... अब संघ त बनि गइल, अब एकर उपयोग' (क्यों भाई, संघ तो बन गया, अब इसकी उपयोगिता?) तो उस मित्र का उत्तर था- 'उपयोग का ए दूधनाथ भाई! (कंधे पर हाथ मार कर) अब जेतना मीडियाकर, लुम्पन तत्व होई ऊ हमनी का कंधा पर पैर धड़ के ऊपर अकास मा चढ़ि जाई... आ हमनी का देखते रहब, जा!' उपयोग क्या होगा... दूधनाथ भाई! यही कि जितने मीडियाकार लुम्पन तत्व हैं, हमारे कंधे पर पैर रखकर आसमान में चढ़ जाएंगे और हम देखते रहेंगे।) दूधनाथ भाई ने अगला सवाल फिर दागा-

'खाली देखते रहब जाइ का?' (खाली देखते ही रहेंगे क्या?)

मित्र : नाहीं, जौन दिन मन करी, ए (कंधे की ओर हाथ की थपकी से इशारा कर) कन्हियां के तनी झटक दिहिल जाई... आ फेर... बबुआ लोग भद से जमीन पर... भरि मुंह माटी... (जोर का ठहाका)

- नहीं, जिस दिन असह्य हो जाएगा, कंधे को झटक देंगे हम लोग और भाई लोग जमीन पर धूल फांकते नजर आएंगे... हः हः हः हः....! (हम दोनों भी खूब हँसे)।

दूधनाथ भाई ने कहना जारी रखा- 'तो ऐसे अवसरवादी लोगों के लिए संगठन से किनाराकशी करने की जरूरत नहीं है। यह तो माना कि पार्टी का छद्म लोकतंत्र ही संगठन के स्तर पर भी लोकतंत्र का घटिया नाटक बनकर आता है। जब आप सब कुछ फ्रैक्शन में तय तमाम कर लेते हैं, तब उसी को क्रियान्वित करने के लिए लोकतंत्र का दिखावा क्यों करते हैं। (दूधनाथ भाई तैश में आकर अपने आप ही ठंडे भी पड़ गए थे अचानक) 'तब भी विजय! हम (लेखक) अकेले तो नहीं रह सकते। यह तो हम भी जानते हैं कि कोई भी संगठन लेखक नहीं पैदा कर सकता पर लेखकों के एक बड़े समूह के साथ बने रहने की जरूरत फिर भी बनी ही रहती है। फिर ये संगठन बहुत दूर तक तटस्थ किस्म के लेखकों पर एक प्रकार का दबाव बनाए रखते हैं। लेखकों के एक बड़े वर्ग को वैचारिक भटकाव से रोकते हैं। यह तो हमें मानना ही पड़ेगा।'

वे एक प्रकार से समझाइश ही दे रहे थे और मैं इसे उनका अधिकार भी मान रहा था किंतु अगले ही क्षण वे कुछ असहज हो उठे। और पिछली बार हुई बैठक का किस्सा सुनाया- 'वहां दिल्ली में शिवकुमारजी ने मिलते ही सवाल किया- 'क्यों विदिशा गए थे? विजय मिला था?' उनकी आवाज में कुछ जांचने जैसा भाव था। पर उनके चेहरे पर तुम्हारे प्रति स्नेहिल भावों की सुगंध भी थी। मैं अचकचा इसलिए गया कि मेरे दिल्ली पहुंचने से पहले ही इन्हें किसने बताया होगा कि मैं विदिशा

गया था। मैं समझता हूँ इस प्रकार की बात रामप्रकाश तो कर नहीं सकते, तब राजेश ने किया होगा। पर मैं यह नहीं समझ पाया कि मेरा विदिशा जाना इश्यू कैसे बना। बताया जो उन्हें जरूरत किसी ने?’ ऊपर की ओर आँख उठाते जैसे अनुमान-सा करने लगे। फिर सहज होकर मैंने उनसे कहा- ‘हां गया तो था, पर विजय भवानी प्रसाद मिश्र रचनावली के सिलसिले में दिल्ली आए हुए थे। शलभ अचानक मिल गए थे बोलने लगे। भकटते हुए पहुंचा तो रात उसी के साथ गुजारकर चला आया।’ यह कहते हुए दूधनाथ भाई की आँखें जैसे वह चेहरा तलाशने की कोशिश में थीं जिसने इस घटना को जामा पहनाया होगा। मैंने कहा- ‘रामप्रकाश भी यह काम कर सकते हैं। कम तो वे भी नहीं हैं। पर राजेश की रुचि इन बातों में कुछ अधिक ही रहती है। जब साहित्यिक लेखन से बात बनती न दिखे तो इसे करने में भी कोई हर्ज नहीं। कम से कम राजेश जोशी जैसे लोगों के लिए क्योंकि साहित्य उनके लिए एक बढ़िया ‘अवसर’ हमेशा रहा है।’

दूधनाथ भाई ने भोपाल का एक और प्रसंग सुनाया। कहा- ‘बंसी कौल के साथ बैठा था तो अयोध्या वाले मुद्दे और ढेर सारे इधर के मुद्दों पर काफी सक्रिय और तत्पर दिखा, पर उसने यह भी कहा कि- ‘अब राजेश से मैं कहता हूँ इन बातों पर लिखो, खाली बोलो मत, तो वह चुप्पी साध जाते हैं। खतरा उठाने की जगहों पर अकसर चुप रहना एक प्रकार का अवसरवाद ही तो है।’

मैंने कहा- ‘बंसी तो राजेश के काफी निकट हैं, बंसी क्यों कहेंगे ऐसा? आपको जांचने के खयाल से कहा होगा।’

‘नहीं भाई! कहा उसने। और काफी गंभीर होकर।’ दूधनाथ भाई ने जैसे याद सा करते हुए बोले!

‘अवसरवादियों से नफरत की हद तक मुझे चिढ़ है इसीलिए मुझे शलभ और नीलकांत जैसे लोग प्रिय हैं। भले ही वे अराजक हों, पियक्कड़ हों, पर हैं वो जीनियस। आज उनके बारे में सोची-समझी चुप्पी अपनाई भले जाए पर कल तो उन्हें रोका नहीं जा सकेगा। वे सबकी छाती पर बैठ जाएंगे।’ मैंने कहा- ‘अब अपना यह जनवादी लेखक संघ अगर इन लेखकों का मूल्यांकन इनके आपात व्यवहारों के आधार पर करता है तो फिर क्या इनके आपात व्यवहार संगठन की विचारधारा के लिए उतने घातक हैं जितने कि अवसरवादियों के? क्या इनकी रचनाओं में कोई स्वलन दिखाई देता है? क्या ये एक साथ लोकप्रियता और श्रेष्ठता का स्पर्श करने की क्षमता नहीं रखते। क्या आचार्य शुक्ल पर नीलकांत जैसा काम किसी और ने किया? तमाम अबोध किस्म के पढ़ाकू लोगों ने मौका पाकर एक-एक किताब पेल दी पर कोई दूसरी किताब उस मुकाबले की जो डॉ. रामविलास शर्मा से भी संवाद करती हो कहां है? आचार्य नंददुलारे वाजपेयी भी हमारे पास हैं आचार्य शुक्ल को लेकर? विचारों की पूंजी जुटाकर बनी-बनाई सधी-बधी शैली में रचना कर लेना एक बात है और अनुभवों की साखी लेकर आसपास की जबान के सहयोग से, अति परिचित जीवन-बिंबों को काव्य-बिंबों में ढालने की जो घटना है, उसमें केवल हमारी संवेदना का विस्तार नहीं हो रहा है, हम अपनी खोई हुई दृष्टि की पुनर्खोज भी कर रहे हैं। हमारी कविता एक खास सामाजिक अर्थ में सम्प्रेष्य बन पा रही है। अमूर्तन और बुद्धिवाद के जंगल से निकलकर हम फिर सम्मूर्तन के बगीचे में आ रहे हैं। हम अनुभव कर पा रहे हैं कि हम स्वाधीन लोग हैं, अपने ढंग से हम न केवल सोच सकते हैं, बल्कि अपने ढंग से अनुभव करने के काबिल भी हैं। हमारी अस्मिता अब हमारे लिए एक मुहावरा

भर नहीं है। वह सचमुच हमारी अभिव्यंजना और हमारी संपूर्ण जीवन-शैली में है। हमारे शब्दों के प्रयोग और वाक्यों की रचना में है। फिर हमारी यह पीढ़ी कितनी विनयी है कि वो भी मुद्राओं और झूठी आक्रामकता से बचकर, साफ-सुथरी बातचीत के लहजे में चली आई जिसके सरताज भवानी मिश्र जैसे कवि थे। मैं यहां निलय उपाध्याय की कविता का यह टुकड़ा उद्धृत किए बगैर नहीं रह पा रहा हूँ- 'सुनो/वापस आ जाओ/अपनों के लिए कभी बंद नहीं होते/घर के दरवाजे/... हम यहां से शुरू करेंगे अपनी यात्रा/एक दूसरे का हाथ थामे/किसी पेड़ से मांग लेंगे दातून/नदी से आवेग, किसी/बोधिवृक्ष के नीचे खीर खायेंगे/इस कठिन समय में/तुम्हारे आने के खयाल भी सुख देते हैं।' यहां जातीय स्मृतियां जिस तरह भाषा के आत्मीय मुहावरों में गुंथी हुई हैं, उनसे हम जातीय कविता की ओर बढ़ते हैं। जो लोग इस 'जाति' को साम्राज्यवादी निगाहों से देखने को विवश हैं, वे शायद ही इसकी कविता को ठीक-ठीक पहचान पाएं। यहां कोई चीज न तो ऊपर से थोपी हुई है, न भीतर से टूटी हुई है। यहां निराशा अगर किसी में है तो वह निश्चय ही गड़बड़ है। भारतीय कविता में उदासी तो समझ में आती है, पर निराशा नहीं।'

दूधनाथ भाई कुछ कहना चाहते थे। शायद उन्हें 'बाबा'\* (\*अपनी ठेठ फकीरी के चलते नीलकांत इलाहाबाद में दोस्तों के बीच 'बाबा' कहे जाते हैं) यानी नीलकांत की याद आ गई थी। नीलकांत और शलभ साहित्यिक फकीर नहीं हैं तो और क्या हैं? पर हमारा लेखक संघ सबसे ज्यादा परेशानी इन्हीं फकीरों को लेकर प्रदर्शित करता है। आखिर क्यों? क्या इसलिए कि संगठन में ज्यादातर कैरियरिस्ट और अवसरवादी किस्म के लोग घुस आए हैं। कुछ तो लेखक ही नहीं हैं और नियंता बने बैठे हैं। ऐसे नियंतागण भला असली लेखकों को कैसे पचा पाएंगे? असली लेखक का हाल तो यह कि चिनगारी बनकर घुसता है और अंगारा बन दहकता रहता है। उसकी लपट बर्दाश्त करना ऐसे संगठनों के बूते का रोग नहीं।' दूधनाथ भाई ने कहा।

'हां। तब इन मठों में जाने की जरूरत ही क्या है? ये बने रहें और अपना संप्रदाय बढ़ाते रहें। शिष्य-प्रशिष्य तैयार करते रहें। हमारा वहां क्या काम? हम तो इन्हीं के उद्देश्यों को और गहरे स्तर पर पूरा करने के लिए, ऐसे अंगारा लेखकों की खोज-खबर में लगे रहते हैं। आखिर यह भी तो एक काम ही हुआ न? इसे संगठन नहीं करता तो उसकी ओर से हम कर रहे हैं।' मैंने जोड़ा।

दूधनाथ भाई भोपाल लौटने की चिंता में थे। बार-बार घड़ी देख रहे थे। मैंने सुझाया- 'आठ बजे दक्षिण-एक्सप्रेस आती है, उससे न सही तो दस-साढ़े दस बजे अमृसर-दादर एक्सप्रेस आती है उससे चले जाइएगा।' मेरा सुझाव उन्हें ठीक जंचा, कहा- 'अच्छा तो लाओ दाढ़ी ही बना लूं।' मैंने कहा- 'पानी भी गरम है, नहाना चाहें तो ना भी लें।' 'नहीं, नहाना कोई जरूरी नहीं। समय है तो दाढ़ी बना लेता हूं।'।

इस बीच मैं उठा और दोनों कप उठा नल के नीचे रख आया। तब तक काम-टहल करने वाली बाई भी आ चुकी थी। मैंने उसके लिए भी लगे हाथ चाय तैयार कर दी। दूधनाथ भाई दाढ़ी बना चुके थे। समय देखा- सात चालीस हो गए थे। स्टेशन पहुंचने के लिए पर्याप्त समय था। इन्क्वायरी से पता लगाया तो ट्रेन भी समय से थी। मैंने उन्हें फिर छोड़ा- 'भगवान सिंह का 'अपने-अपने राम' आपको कैसा लगा?'

'हां। है तो ठीक पर जातिवादी टिंच भी कुछ कम नहीं है।'

‘क्या आप भी यही मानते हैं कि वह दो विचार-परंपराओं का नहीं, वस्तुतः राजपूतों और ब्राह्मणों के झगड़े और राजपूतों के पक्ष को मजबूत साबित करने की कथा है।’ मैंने कहा।

‘अब इसे नकारा भी कैसे जाए?’ जिस तरह से उसमें वशिष्ठ और विश्वामित्र को आमने-सामने किया गया है, उससे लगता तो यही है।’ बोले।

अब तक वे नाश्ते की मेज पर आ चुके थे। दूध-दलिया अथवा पराठा-अचार की जगह अजवाइन-नमक की सिकी हुई मोटी रोटी और वही रात वाला सूरन का अचार। मैंने प्लेट में अचार का एक टुकड़ा और रोटी लाकर उनके आगे रख दिया। वे सलीके से कौर बना, उसे अचार के टुकड़े से छुआ-छुआकर खाने लगे। मैं खड़े-खड़े परोस रहा था। बात की टूटी कड़ी जोड़ते हुए मैंने आगे कहा- ‘इस तरह तो वेदों के कर्मकांडियों के विरुद्ध उठ खड़े होने वाले बौद्ध और जैन धर्म प्रवर्तकों का क्रियाकलाप भी जातिवादी हो जाता है क्योंकि गौतम बुद्ध तो शाक्यवंशी थे ही, जैनियों के चौबीसों तीर्थंकर क्षत्रिय थे। भगवतशरणजी ने इसे ‘भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण’ में दूसरे ढंग से रेखांकित भी किया है। यानी बामनों और ठाकुरों का झगड़ा।’

तब जवाब में उन्होंने कहा- ‘हां! अब इस पर बहस तो है पर भगवान सिंह की सोच का ढंग भी कुछ अजीब-सा है। मैं तो कौशांबी को प्रमाण मानता हूं। अब भगवान सिंह ने ‘हड़प्पा सभ्यता और वैदिक साहित्य’ तो डेडीकेट किया है डॉ. महादेव साहा को और उसकी भूमिका लिखवाई है डॉ. स्वराज्य प्रकाश गुप्त से। ये वही सज्जन हैं जो अयोध्या में इतना सब करवा रहे हैं। मैं यह समझ नहीं पाता कि भगवान सिंह दरअसल चाहते क्या हैं? अब हम तो उन्हें तब से जानते हैं, जब वे कलकत्ता में रह रहे थे। हमारी उनकी आत्मीयता भी है पर जिस तरह से वे वशिष्ठ को पेंट करते हैं क्या वशिष्ठ सचमुच वैसे थे? मिथ को इस तरह पेश करना, मैं तो नहीं मानता कि ठीक है।’ उन्होंने कहा।

‘तो क्या तुलसीदास ने रामकथा को बिल्कुल अलग रंग नहीं दे दिया है? ब्राह्मणों ने जो काम कालांतर में अपने न्यस्त स्वार्थों के लिए वेदों के साथ किया, वही रामकथा के साथ उन्होंने नहीं कर दिया? घाल-मेल करने में ब्राह्मण-बुद्धि जितनी उस्ताद है, उतना तो कोई दूसरा कभी हो नहीं सकता। यह और बात है कि एक समय के बाद सभी क्रांतियां यूज हो जाती हैं और आने वाले लोगों को उनका दुबारा अर्थ ढूंढना पड़ता है। भगवान सिंह ने यह उपन्यास लिखकर वही काम किया है। आखिर तुलसी तो यह लिखने की क्या जरूरत पड़ गई कि रामकथा को जिसने जैसा पाया और समझा उसी रूप में उसने उसे प्रकट भी किया।’

‘भगवान सिंह ने अगर इसी लाइन पर अपना एक और राम खड़ा किया तो वशिष्ठों का बुद्धिदास नहीं है और सत्ता के षड्यंत्रों के बीच भी अपनी लोकदृष्टि और स्वविवेक बचाए रख पाता है तो क्या यह जातिवादी कथानक हुआ?’ मेरा तर्क था।

मैंने लगे हाथ उन्हें एक वाक्या भी सुनाया- ‘भगवान सिंह जब नवंबर के अंत में यहां आए थे, तब एक गोष्ठी में उन्होंने यही कहा भी था कि रामकथा को पुरोहिती इस्तेमाल की वस्तु बना दिया गया है। एक वर्ग हमेशा उसी को ढाल बनाकर इस समाज का वैचारिक और मानसिक शोषण करता है पर असली रामकथा वह नहीं है जो वाल्मीकि ने या तुलसी ने लिखी। दशरथ बुढ़ापे में किशोरी कैकेयी से विवाह करते हैं, यह क्या समर्थन योग्य भारतीयता है? इसे ढंककर हम क्या करते

हैं? सीता के साथ जो अयोध्या वाले करते हैं, वह भी। मैंने तो वही कथा लिखी जो असली और लोकसम्मत है। हां। शास्त्रसम्मत नहीं लिखा मैंने, क्योंकि उसमें फिर पाखंड आता और सारा कथानक नए सिरे से हमारे समाज के शोषण का जरिया बन जाता। झूठ-मूठ का एक राक्षस खड़ा करके और बाकी सब बातों की अनदेखी कर जाना क्या उचित है? राम एक राजा हैं। राजा का निचली जातियों के प्रति क्या फर्ज बनता है? राम यह फर्ज अदा करते हैं या नहीं, यह सब हमें किष्किंधा और वनमार्ग में दिखाई नहीं पड़ता? क्या वह राम वशिष्ठों का मानसिक गुलाम कभी होगा? तब क्यों उसे राजपुरोहितों के निर्देशानुसार यह आदेश दिया जाता है कि वह शंबूक का वध करे? और क्या यह संभव है कि ऐसा राम कभी करेगा, क्योंकि इससे एक वर्ग-विशेष का स्वार्थ सधता है।’

दूधनाथ भाई मुझे सुनते रहे और मुस्कराते रहे। मैंने उन्हें दूसरी रोटी लाकर दी। उनकी मुस्कान देख मुझे भी मजाक सूझा। मैंने कहा- ‘ब्राह्मण यह क्यों समझता है कि हम मूर्ख हैं। केवल बाहुबल ही हमारे पास है?’

उन्होंने मुझे काटते हुए यह तर्क रखा- ‘विश्वामित्र को ब्रह्मर्षि होने की ही क्यों सूझी? क्या यह अपने से उच्चतर वर्ण में जाने का झगडा नहीं है?’

मैंने कहा- ‘जो आप कह रहे हैं, वह भी हो सकता है। पर मैं यह जानना चाहता हूँ कि क्या वशिष्ठ की बपौती है यह सब? है तो क्यों? आयों की वर्ण-व्यवस्था तो मूलतः कर्मप्रधान थी। फिर शंबूक हों या विश्वामित्र क्यों नहीं इनकी योग्यता पर ध्यान दिया गया? जन्म के आधार पर इनको क्यों आंका गया? और थोड़ी देर के लिए मान लें कि विश्वामित्र और शंबूक अपना वर्ण परिवर्तन करना ही चाहते थे और वशिष्ठों के चलते नहीं कर पाए तो यह एक प्रकार का सांकेतिक युद्ध है, जन्म केंद्रित वर्णवाद के विरुद्ध। हम यह क्यों न मानकर चलें? आखिर जगजीवनराम भी तो प्रधानमंत्री हो सकते थे, पर मोरारजी भाई के समर्थन में ही चरणसिंह ने अपना मत क्यों दिया? जगजीवनराम अयोग्य थे या सिर्फ इसलिए कि हरिजन थे।’ मैंने आगे मजाकिया टोन में कहा- ‘फिर अपन तो राजपूत हैं। हमें तो भगवान सिंह का समर्थन करना ही है।’ कहकर मैं हँसा तो दूधनाथ भाई भी इसी हँसी के साथ हो लिए।

इसके तत्काल बाद वे मुद्दे पर आ गए और कहने लगे- ‘नामवरजी ने बीसों साल बाद किसी किताब पर रिब्यू लिखी.... यह क्या ‘अपने-अपने राम’ और भगवान सिंह के लिए महत्वपूर्ण नहीं है। हां! उन्होंने जो ये लिखा कि इसे पढ़ने में जासूसी उपन्यासों जैसा मजा आता है, यह कुछ अजीब-सा लगा। ऐसा लिखने में क्या प्रयोजन था उनका। और सुनो! उसी उपन्यास पर जब जनवादी लेखक संघ की दिल्ली शाखा ने गोष्ठी रखी, तो वे रिब्यू के उलट भी बोल आए। यह क्या हुआ? स्टैंड बदलना कहां तक ठीक रहता है? अब भगवान सिंह ने तो ‘यमगाथा’ (नाटककार : दूधनाथ सिंह) की रिब्यू की, जो एक प्रकार से खिलाफ ही गई पर मैं अपनी आलोचनाओं को अपने संबंधों से नहीं जोड़ता। पिछली बार जब नामवरजी घर आए, मार्कण्डेयजी थे साथ भोजन पर, तो मैंने कहा- ‘यह क्या रहा कि लिखते समय आपका मूड कुछ और था और जलेस की गोष्ठी में बिल्कुल बदला हुआ? वे कुछ बोले नहीं।’ पर यह वाक्य मुझे अब भी अपने प्रयोजन में समझ में नहीं आता कि- ‘पढ़ने में जासूसी उपन्यासों जैसा मजा देता है।’

दूधनाथ भाई ने अपनी बात खत्म की ही होगी कि मैंने उन्हें पिछले अक्टूबर (92) का 9 तारीख

की अपनी मुलाकात का किस्सा उन्हें सुनाया- 'कर्णसिंह चौहान के साथ रात 9.00 बजे मैं भगवान सिंह के यहां पहुंचा तो वे बहुत बेसब्री से इंतजार कर रहे थे। दो दिन वायदा करके भी मैं पहुंच नहीं पाया था। आज यह तीसरा दिन था। सात बजे का वायदा और पहुंचे हम नौ पर। कर्णसिंह चौहान भी साथ थे पहले अनुपम मिश्र के घर राजघाट से बस पकड़ मॉल टाउन। फिर खरामा-खरामा टैगोर पार्क। कर्ण ने भी थोड़ा समय लिया। गाड़ी निकालते-निकालते और मेन रूट पर आते-आते पंद्रह-बीस मिनट तो लगे ही। इतने में ही सवा आठ हो गए। हम दोनों थोड़ी देर जलेस की राजनीति में रमे रहे। फिर ऐसा लगा कि नजदीक आ गए हैं तो इस-उससे पूछना शुरू किया। कर्ण ने मुझे दरयाफ्त करना चाहा- 'किधर से मुड़ना होगा इन्क्लेव में घुसने के लिए?' मैंने कहा- 'वो जो गुमटी है, वहीं चलकर पूछ लिया जाए। मैं तो दिल्ली में आकर भूल ही जाता हूं। फिर भी सड़क का वातावरण और खुला-खला-सा आकाश देख अंदाज यही लग रहा है कि हम एकदम करीब आ चुके हैं। रात नौ बजे की धुंधली रोशनी में ठीक से पहचानना भी मुश्किल लग रहा था। मकानों के नंबर और नेमप्लेट मुश्किल से पढ़ने में आ रहे थे। एक साहब से पूछने की कोशिश की तो वे अपनी कार स्टार्ट कर तेजी से निकल गए। शायद जल्दी में थे। दूसरे मकान में आधुनिकाओं और किशोरियों की रंगीन भीड़ थी। उस भीड़ में अजनबी की तरह घुसकर पूछने की हमारी हिम्मत नहीं पड़ी। इसी बीच अपने घर के बाहर एक सरदारजी दोनों बाजुओं को गेट पर टिकाए खड़े दिखे, जैसे हमारी हमारी मदद के लिए खड़े हों। पूछा तो इशारे से झट बता दिया- 'सी-136 तो वही है जहां आपने गाड़ी खड़ी कर रखी है।' हमने कहा- 'भगवान सिंह जो लेखक हैं।' तो उन्होंने जवाब दिया- 'यह तो नहीं मालूम जी पर यह नंबर तो उधर ही होना चाहिए।' हम दोनों पलटकर गए तो भगवान सिंह दरवाजा खोल बाहर आ गए। उनके चेहरे पर इंतजार से उपजी खीझ के सथ ब्रेसब्री भी थी- 'ये तुम्हारे सात बज रहे हैं?' उनका गुस्सा शांत करने की गरज से मैंने कहा- 'हम दोनों पहुंच गए, यही क्या गनीमत नहीं है? कहां दिल्ली का राजघाट, फिर बस पकड़ मॉडल टाउन, वहां से पैदल टैगोर पार्क। कर्ण को भी थोड़ा टाइम तो लगा ही। दिल्ली की दूरियां कितनी दुष्कर हैं।' तो वे किंचित सहज हुए।

रास्ते भर हम दोनों जलेस को लेकर बातचीत करते आए थे। 'अपने-अपने राम' को लेकर भी। कर्ण सिंह का खयाल भी बहुत कुछ दूधनाथ भाई के आसपास का था। पर जब हम तीनों बैगपाइपर के गिलास पर बैठे तो कर्ण का टोन डाउन था। वे जैसे आवाज को काफी दबा-दबाकर अपनी बात रख रहे थे। कर्ण का मुख्य मुद्दा था कि वैसे भी समाज बिखराव के कगार पर है। जातिवादी प्रवृत्तियां जोर मार रही हैं। ऐसे समय में यह तीखा द्वंद उठाने की जरूरत क्या?

पर भगवान सिंह अपने स्टैंड को लेकर काफी गंभीर थे। भावुकता उनकी भले ही छायावादियों की सी रही हो पर बौद्धिकता तो एकदम प्रयोगवादियों वाली थी। बात चली तो चर्चा दिल्ली जलेस वाली गोष्ठी में नामवरजी के वक्तव्य की आ ही गई। 'हंस' में उन्होंने उपन्यास को लेकर जो कुछ लिखा था, जलेस की गोष्ठी में उसके ठीक उलट बोल आए थे। भगवान सिंह ने कहा- 'खैर नामवरजी ने वही किया, जो अब तक करते आ रहे हैं। वे न लिखते पर लिखकर पलट गए- यह मुझे काफी खला लोगों ने पूछा तो जवाब दिया- उतनी गुंजाइश मैंने लिखने में रख छोड़ी थी।' अब इसका क्या किया जाए। हिंदी वालों की बुद्धिजीविता का चरित्र ही यही है। वे या तो संदेह में जीते हैं या असमंजस में। कुछ कहीं तो कोई न कोई दबाव ही उन्हें इधर-उधर करता रहता है। एक रामविलासजी

हैं अकेले जिनका स्टैंड साफ-सुथरा और दो टूक रहता है। नामवरजी तो काफी गड़बड़ करते रहते हैं।’

भगवान सिंह इतना कह चुप हो गए। रात के ग्यारह बज रहे थे। मैं तो रात रुकने की गरज से ही आया था पर कर्ण को लौटाना था। वो खा-पीकर ग्यारह बजे निकल गए।

कर्ण को विदा कर हम भीतर लौटे तो लगा भगवान सिंह कुछ सोच रहे हैं। मैंने तय किया- अब उन्हें छोड़ूँ नहीं। ड्राइंग रूम मैं लौट अखबार पलटने लगा। वे भीतर गए और तुरंत फिर लौट आए।’ कहा- ‘सुनो! बिस्तर लगा दिया है। सोने का वक्त तो हो चुका होगा तुम्हारा?’

‘हां! नींद तो सवार हो चुकी है’, मैंने कहा।

‘तो यहां (उन्होंने हाथ के इशारे से दिखाया) रजाई रख दी है, मच्छरदानी तो लगी ही है।’ इतना कह वे चुपचाप अपने सोने के कमरे की ओर चले गए। मैंने भी लुंगी पहनी, कुरता हैंगर में टांगा और मच्छरदानी की शरण ले ली।

तीन-साढ़े तीन बजे प्यास महसूस हुई तो उठा। देखा कि वे किचेन में हैं और चाय बना रहे हैं। उन्होंने देखते ही पूछा- ‘क्या तुम्हारे लिए भी बनाऊं?’

‘नहीं! आप अपनी बना लें। मैं बाद में बना लूंगा।’ कह फिर बिस्तर पर आ गया। पर नींद तो जैसे हवा हो चुकी थी। किचेन में गया। पत्तीली धोकर चढ़ा दिया। दूध की पत्तीली फ्रिज में थी। शक्कर का डिब्बा तो वे चूल्हे के पास ही छोड़ गए थे। चाय तैयार कर मैं ड्राइंग रूम में आ गया और चुस्की लेने लगा। उजाला थोड़ा बना रहे, इसके लिए हल्की रोशनी वाला बल्ब भी जला लिया। थोड़ी ही देर में वे अपने कमरे से निकल ड्राइंग रूम में आ गए। इस बार उनके शरीर पर ऊनी पुलोवर था। पांवों में मोजा और जूता भी। देखते ही ताड़ गया वे घूमने जाने वाले हैं। मैं भी उनके साथ निकल पड़ा। रास्ते में वे मेरे कमजोर स्वास्थ्य पर चिंता जताते रहे। मैं भी उनके पूछे सवालियों का कोई न कोई जवाब देता रहा। कुछ देर बाद मौका मिला तो मैंने उनके सामने यह जिज्ञासा रख दी- ‘जो समीक्षाएं ‘हंस’ में छपी हैं, उनका कोई जवाब आपके पास है?’ मैंने महसूस किया कि भोर के उस नीम उजाले में उनका स्वर किंचित् कठोर हो उठा है- ‘यह जो तुम्हारा हिंदी क्षेत्र है, उसका हाल बड़ा विचित्र है। यहां वे लोग भी कुछ कहने के लिए आजाद हैं जिन्हें उस विषय का अधिकारी नहीं कहा जाता। किसी किताब पर बोलते या लिखते वक्त जिस तैयारी की जरूरत पड़ती है- ‘हिंदी वाले उस पर भी बहुत कम ध्यान देते हैं। यह क्या एक प्रकार का गैरजिम्मेदाराना रवैया नहीं है? मैं अभी उन समीक्षाओं का जवाब तैयार कर रहा हूं। राजेंद्र यादव (संपादक : हंस) ने भी चाहा है कि मुझे अगर कुछ कहना है तो कहूं। अभी घर चलकर तुम्हें दिखाता हूं कि मैं क्या जवाब दे रहा हूं।’ लौटकर आए तो अपने कमरे में ले गए, जहां उनकी टेबुल पर कंप्यूटर रखा हुआ था। वे अपनी कुर्सी पर बैठ गए। मैं उनके बिस्तर पर। बैठते ही कंप्यूटर ऑन कर दिया और मुझे एक-एक पैराग्राफ पढ़कर सुनाने लगे, जिसका सार संक्षेप कुछ इस तरह होगा-

‘जब साहित्य पर बात साहित्य से बाहर जाकर की जाती है तो साहित्य तो अदृश्य हो जाता है, दिखाई देते हैं साहित्य से बाहर जाकर बहस को शोर में बदलते हुए वैचारिक प्रदूषण पैदा करने वाले प्राणी। इनसे इसलिए तर्क नहीं किया जा सकता क्योंकि इनके पास आवाज होती है, तर्क नहीं होता। दूसरों को भी इसी शोर का हिस्सा बनाने के लिए ये तर्कसंगत की भर्त्सना करते हुए तर्कतर

की मांग करते हैं।’

‘मैं जिसे शोर कह रहा हूँ... इसे समझने के लिए कुछ बातों पर गौर करना जरूरी है... धर्म खतरे में है, मिथक खतरे में है, सांस्कृतिक कीमियागिरी खतरे में है, वाली भाषा है। बदलेगा जमाना लाख मगर कुरआन न बदला जाएगा का रूपांतर मिथक न बदला जाएगा का कठोर संकल्प है। इनको आपत्ति राम की वर्णवादी व्याख्या से है, विरोध नारीवाद और मंडलवाद के पुरोधे राम से है।... इन्होंने सृजनात्मक लेखक का नाम भले किताबों में ही पढ़ा हो पर इनकी जेहन में एक अदृश्य तालिका भरी है, जिसमें दर्ज है कि साहित्य में किस पर और किस तरह लिखा जा सकता है। वे परेशान हैं कि इस दुराशायी लेखक ने अपने प्रिय मिथकों को बिगाड़ दिया वर्ना सामाजिक न्याय की लड़ाई में वे इसी का इस्तेमाल करने जा रहे थे।... वे यह इनकार नहीं कर पाते कि रचना जनवादी, सामाजिक न्याय और वर्णवाद विरोधी तकाजे से लिखी गई है...। लेकिन उनके सरोकार कुछ और हैं- यह उन्होंने विस्तार से समझाया और लिखा भी है।’

दूधनाथ भाई सुनते-सुनते ही बोले- ‘भगवान सिंह अपने प्रति की जाने वाली आलोचनाओं से इतने विचलित क्यों हो उठते हैं? मुझे तो इसकी जरूरत महसूस नहीं होती। ‘यमगाथा’ पर तो स्वयं उन्होंने ही लिखा, और कई बातों को लेकर तीखी असहमति प्रकट की, फिर भी मैं विचलित तो नहीं हुआ। मेच्योर लेखक को इसकी जरूरत क्या पड़ती है?’

‘प्रश्न मेच्योरिटी का नहीं, अपनी कृति से लगाव का है। समझ और सोच की उस सिन्सियरिटी का है, जिससे कृति अपनी पहचान बनाती है। लेखक को क्या इसके प्रति सेन्सिटिव नहीं होना चाहिए।’ मैंने कहा।

मेरी बात पर उन्होंने कुछ ऐसी मुद्रा बनाई जैसे यह कोई समझ से परे की बात हो या फिर ऐसी बचकानी जिस पर ध्यान देना फिजूल हो। किसी लेखक को इस मुद्दे पर संवेदनशीलता प्रदर्शित करना उनके हिसाब से शायद ही कोई बुद्धिमानी है। मैंने उन्हें ‘वशिष्ठ’ वाला किस्सा भी सुनाया। वशिष्ठ को जिस तरह भगवान सिंह ने उपन्यास में पेंट किया है, वह मेरे गले के नीचे उतर नहीं पा रहा था। मुझे लग रहा था, जानबूझकर उन्होंने वशिष्ठ की इतनी विरुद्ध कल्पना की है। सिर्फ ब्राह्मणों की श्रेष्ठता और प्रकारांतर से ब्राह्मणों को नीचा दिखाने के लिए। मैंने दबी जुबान से यह बात उनसे यह भी दी। वे तत्काल अपनी कुर्सी से उठे और सेल्फ में लगी ऋग्वेद उठा लाए। उस पन्ने को खोजकर मेरे आगे रख दिया- ‘लो पढ़ो।’ क्या लिखा गया है इसमें- (उन्होंने पृष्ठ मेरी आंखों के बिल्कुल सामने कर पढ़ना शुरू किया)-

अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि यदि वा आयुः ततप पुरुषस्य।

अद्या स वीरः दर्शाभिः वि यया यो मा मोघं यातुधान इति आह॥

-ऋग्वेद मंडल-7, सूक्त-104, मंत्र-151 (यह कथन स्वयं वशिष्ठ का है)।

किताब बंद करके उन्होंने फिर कहा- ‘तुम लोग समझते हो मैंने बहुत सारा निराधार लिख डाला है। इसका कारण है कि परंपरा को ‘एट सोर्स’ पकड़ने की कोशिश में किसी की रुचि नहीं है। हम अन्य विद्वानों के किए हुए कामों पर पंडित बने बैठे हैं। खुद की हमारी अपनी कोई कमाई नहीं है। इसीलिए हमारा कहा हुआ कोई मायने नहीं रखता, खासकर ओरियंटलिस्टों के बीच। ले-देकर एक रामविलासजी हैं, जो यह मेहनत कर रहे हैं, तो उन पर इधर-उधर से वार करने और



करवाने की योजनाएं बनाई जाती हैं। ठीक उतनी ही तैयारी के साथ, उसी फील्ड में उतरकर संवाद करना हम हिंदी वालों की आदत ही नहीं बनी। मैं ऐसा नहीं करता। अगर मैंने रामकथा पर काम किया है तो उस पूरे युग को समझने की कोशिश पहले की है। मेरी समझ गलत हो सकती है। पर मेरी कोशिश मेरी कोशिश है। और यह मैंने पूरी ईमानदारी से की है। रामकथा में अगर घालमेल किया है तो पुरोहितों ने किया है, जिन्हें अपने यजमानों को अपनी मुट्ठी में रखना था तभी तो उन्होंने इसे चमत्कार और दैवीपन से जोड़ दिया। मूलकथा तो भर्तृहरि की कथा की तरह एक तरह का पवांरा थी, जिसे 'कुशीलव' गाते थे।' उन्होंने आवाज भारी करते हुए कहा- 'यह जान लेना होगा कि मूलकथा के गायक ब्राह्मण नहीं थे। ब्राह्मणों ने इसे मौका देखकर अपनाया। ब्राह्मणों को बौद्धों से आर्थिक सामाजिक स्तर पर निपटने के लिए भी इस कथा का उपयोग समझ में आया तभी रामजन्म की कथा को ऋषियों से जोड़ा गया। बताया गया कि ऋषियों की कृपा से सभी पैदा हो रहे हैं। गौतम बुद्ध ने यज्ञों का विरोध किया था, इसलिए रामायण-महाभारत में सारे चमत्कारी जन्म यज्ञों से कराए गए। यज्ञ का महत्व अगर स्थापित नहीं हो पाया तो पुरोहित वर्ग भूखों मर जाएगा। बौद्धों ने यज्ञों का विरोध कर आर्थिक तौर पर ब्राह्मणों को पीछे धकेल दिया था, इसके लिए फिर से यज्ञ जरूरी हो गए थे। पर जनता का भरोसा यज्ञों और उससे जुड़े कर्मकांड में फिर पैदा हो, इसके लिए रामायण-महाभारत में उनका महत्व प्रदर्शित किया गया।'।

इतना बताकर वे थोड़े नरम पड़े और फिर कहना शुरू किया- 'अब तुम देखो कि ऋग्वेद में राम और कृष्ण को 'असुर' कहा गया है 'सुर' उत्पादन की दिशा में बढ़ने वाले लोग थे। अपेक्षाकृत सभ्य और वैज्ञानिक विकास वाली जाति। असुर तो अकृषक लोग थे। असुरों का संबंध असीरियन जाति से भी संभव है। इनमें सुदास ही एक ऐसा राजा हुआ जिसके पुरोहित वशिष्ठ भी हुए, विश्वामित्र भी। दोनों समवयस्क थे। वशिष्ठ का सुदास के अभ्युदय में सबसे बड़ा योगदान था। दाशराज युद्ध में इनके वंशजों और इनकी बुद्धि ने बहुत भारी काम किया था। सुदास इतने अधिक प्रभावशाली व्यक्ति को बर्दाश्त नहीं कर सकता था, क्योंकि वशिष्ठ के प्रताप के सामने वह धूमिल पड़ जाता था। इसलिए उस समय के दूसरे प्रभावशाली ऋषि विश्वामित्र को उसने अपना पुरोहित बनाया, जिसके प्रधानमंत्रित्व में सुदास ने दिग्विजय और अश्वमेध यज्ञ करके अपने प्रभाव को यमुना के पूर्व वाले अनार्य राजाओं पर बढ़ाया। सुदास के इस कार्य से वशिष्ठ और विश्वामित्र के घरों में वैमनस्य हो गया। अब इसे इतिहास और पुराण दोनों के योग से समझा जा सकता है। ऋग्वेद के 7वें मंडल के 104वें सूक्त की पंद्रहवीं-सोलहवीं ऋचा है जिसमें वशिष्ठ को मायावी और यातुधान आदि कहा गया है। अब अगर ऋग्वेद यह कहता है तो मैं कहां घपला कर रहा हूं। ऋग्वेद में ही विश्वामित्र ने बदले में गाली बहुत दी है। हम अधिक तटस्थ होकर अपने रिक्थ को क्यों नहीं देखते? अंध विरोध या अंध पूजा का रास्ता ही हमें क्यों अधिक सुविधाजनक लगता है? क्योंकि इसमें मेहनत कम पड़ती है। असुविधाकारक स्थितियां नहीं पैदा हो पातीं। जपाटपन का जपाटपन बना रहता है। यह क्या वैज्ञानिक पद्धति हुई?' मेरे मुंह से भगवान सिंह के तर्कों को सुनते हुए दूधनाथ भाई ने कहा- 'वशिष्ठ भी तो अब्राह्मण ही है। वह भी तो अपनी प्रतिभा के बल पर ही ऊंचा उठा। ऋग्वेद में उसका परिचय जो दिया गया है वह यही है- उतासि मैत्रावरुणो वशिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन्मनसोधि जातः/ असरसः परिजज्ञे वशिष्ठ...हे वशिष्ठ, तुम मित्र और वरुण के हो, तुम उर्वशी के मन से जन्मे, जो

बिंदु गिरा, उसे तुम्हें विश्वदेवों ने दिव्य-मंत्र द्वारा पुष्कर में धारण किया/ फिर कहा- 'वशिष्ठ अप्सरा से उत्पन्न हुए।... आगे की ऋचा में यह कहा गया कि सत्र में विद्यमान नमस्कारों द्वारा प्रार्थित मित्र-वरुण ने एक साथ कुंभ में वीर्य-सिंचन किया। उसी के मध्य मान उत्पन्न हुआ, वशिष्ठ ऋषि को उसी से जन्मा कहते हैं। तब वशिष्ठ को ब्राह्मणों से जोड़कर देखने का क्या तुक है?' दूधनाथ भाई ने फिर वही सवाल पेश कर दिया।

मैंने सोचा, इसका उत्तर सविस्तार देना चाहिए पर मुझे यह भय भी था कि दूधनाथ भाई इसे अपनी तौहीन न समझ लें। तभी विस्तार में जाकर तर्क और प्रमाण देने की हिम्मत मेरी नहीं हुई। पर कहना जरूरी लगा कि जिसे हम ब्राह्मण परंपरा या सनातन परंपरा या हिंदू परंपरा कहते आ रहे हैं उसकी भी दो धाराएं हैं। चाणक्य भी ब्राह्मण है और आचार्य वररुचि भी। वररुचि आज के अर्थों में यथास्थितिवादी हैं किंतु चाणक्य नहीं। पौरव कट्टरवादी क्षत्रिय है। वह वृषल चंद्रगुप्त को अपने हेठी के चलते स्वीकार नहीं कर पाता। पर उसका क्षत्रियत्व सिकंदर के सामने कहां चला जाता है? यह भी देखने की बात है कि परंपरा पौरव की नहीं, चंद्रगुप्त की ही चली। उसके प्राधानामात्य चाणक्य की चली, जो मगध के पूर्व शासक नंद द्वारा निष्कासित ब्राह्मण था। ब्राह्मणत्व एक क्रांतिकारी विचाराधारा है जब उसमें जंग लगने लगती है तब वशिष्ठ और वररुचि पैदा होते हैं। किंतु जब वह आत्मशोधन पर उतारू होती है तब चाणक्य जन्म लेते हैं। भगवान सिंह ने उपन्यास में अगर वशिष्ठ को खलनायक की जमीन पर ला खड़ा किया है तो उसके पीछे सच यही है। मैंने किंचित आवेश में कहा- 'क्या आज शिक्षा, राजव्यवस्था और धर्म का जो रूप हमारे सामने मौजूद है, उसका समर्थन हम कर सकते हैं? सिर्फ इसलिए कि चलता चला आ रहा है और उससे छेड़-छाड़ करने पर काफी परेशानी उठानी पड़ेगी? पर यह परेशानी किसे उठानी पड़ेगी? क्या उस बड़े वर्ग को जिसे हम सचमुच शोषित और दलित विपन्न जनता कहते हैं? पांच साल में जिसके पास एक बार वोट मांगने के लिए जाते हैं? क्या वह उस अर्थ में शिक्षित है जिसे हम सुसाक्षर लोग शिक्षा मानते हैं? क्या दलीय राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए हिंदू और मुसलमान जनता (जो अब भी प्रजा मात्र है) की धार्मिक भावनाओं का शोषण हमारे लोग नहीं कर रहे हैं? अब अगर देश में कोई उथल-पुथल होती है और क्रांतिकारी बदलाव आता है तो चपेट में कौन वर्ग आएगा? क्या वही नहीं जो सुविधा प्राप्त उच्च वर्ग है? जो पहले से ही वंचित विशाल जनसमूह है, क्या उसे कोई नुकसान भुगतना पड़ेगा? वह तो उत्पीड़न में पहले ही है। हां, यह संभव है कि इस उथल-पुथल से उसकी स्थिति बदले, जो सुविधाप्राप्त वर्ग है, वशिष्ठ-जनों के तबके हैं, वे तो निश्चय ही मुसीबत में पड़ जाएंगे। अब मैं आपसे यह पूछना चाहता हूं कि आप क्या इन वशिष्ठों के साथ हैं?' यह कह मैं थोड़ा रुका। दूधनाथ भाई का रिएक्शन देखने के लिए। लगा कि वे अभी कोई बहस खड़ी करने को राजी नहीं हैं।

मैं आगे बढ़ा- 'आप जो कहते हैं कि भगवान सिंह ने मिथ के साथ ज्यादाती की है तो क्या यह मनमानी पहली बार की गई? क्या वाल्मीकि ने कथा को जैसा बुना था, तुलसीदास ने उसे बिल्कुल दैवी रंग में नहीं रंग डाला। तुलसीदास को क्यों लगा कि लौकिक को अलौकिक बनाए बगैर काम नहीं चलने वाला? क्या और लोगों ने भी यह नहीं किया? सबने अपने-अपने प्रयोजन के लिए रामकथा का उपयोग किया। मेरी समझ में इससे उस कथा की ताकत बढ़ती ही है। हर जमाना रामकथा के मार्फत अपने सवालों का जवाब खोजता आया है। क्या हमें नहीं खोजना चाहिए? मुख्य

बात यह है कि भगवान सिंह ने जो सवाल खड़े किए हैं, उसका कोई जवाब भी वे खोज सके हैं कि नहीं, न कि यह उन्होंने 'मिथ' को तोड़-ताड़ डाला है या मनमानी की है? मिथ आखिर किसकी संपत्ति हैं? और किसके लिए हैं? क्या वह वर्ग भगवान सिंह का वर्ग नहीं है? क्या भगवान सिंह या कोई और इस कमाई पर अपना वर्चस्व कायम करने की कोशिश कर अपराधी साबित हुए? सवाल यह भी है कि क्या यह पुरुषार्थ हमें बुरी तरह झकझोरता नहीं? क्या यह हमारी पाखंडप्रियता, बदमजगी और खतरनाक चुप्पी को चैलेंज नहीं करता? हमारी क्षुद्र राजनीतिक प्रतिस्पर्धा के पीछे के हमारे आर्थिक और जातिपरक स्वार्थ केंद्रों को निशाने में नहीं लेता? सबसे बड़ी बात तो यह कि हमें हमारी उस प्राचीन विरासत से क्या नहीं जोड़ता जिसमें पिता-पुत्र, गुरु-शिष्य, ब्राह्मण-शूद्र, प्रतिष्ठित और कथित तौर पर अप्रतिष्ठित (दलित) जन एकदम सामने-आमने आकर सत्य का शोधन करते हैं? हमारी परंपरा में सत्य का शोधन करने वाली मेधा ही वरेण्य और पूज्य मानी गई है न कि सुविधाजनक सत्य का समर्थन करने वाली। सुविधाजनक सत्य वशिष्ठों का हो सकता है, द्रोणाचार्यों का हो सकता है। शंबूक, एकलव्य और कर्ण का नहीं। ये हमारी परंपरा के असुविधाजनक सत्यों के पक्ष में सिद्धांततः खड़े होने को मजबूर हो गए हैं तो कल व्यवहारतः भी मजबूर खड़े मिलेंगे। भगवान सिंह के 'राम' और 'शंबूक' यही कल वाले सच हैं। वे कोई अंधायुग वाले विवश और लाचार कृष्ण नहीं हैं। अंधायुग नेहरू- युग के दिग्भ्रम और लाचारी का सच है। 'अपने-अपने राम' इस शताब्दी के सारे वैचारिक आत्ममंथन, सांस्कृतिक उथल-पुथल, ठेठ जपाटपन और उसके बीच से बेदाग निकल आने वाले भविष्य का असुविधाजनक सच है। अब यह और बात है कि हिंदी वाले अपनी चतुराई या क्षुद्र प्रतिस्पर्धिता के चलते इसके महत्व को नजरअंदाज करें।'

कह तो मैं गया पर तुरंत लगा कि मेरा कथन कुछ अशोभनीय हो उठा है। दूधनाथ भाई मेरे अतिथि भी हैं, आदरणीय आत्मीय तो हैं ही। वाणी क्या, भाव तक से ऐसी अभिव्यक्ति अतिथि के संदर्भ में अक्षम्य है पर बात तो मुंह से निकल चुकी थी। अचानक वे कुर्सी से उठ खड़े हुए। जल्दबाजी दिखाते हुए बोले- 'लगता है यह गाड़ी भी तुम छुड़वा दोगे? देखो कितना बजा है?'

मैंने घड़ी देखी, दस बज चुके थे। मैंने पंद्रह मिनट में दाढ़ी बना ली, नहा-धो लिया। उन्हें दस अट्ठाईस पर अमृतसर-दादर एक्सप्रेस से जाना था। प्लेटफार्म पर गाड़ी का इंतजार करते मैंने महसूस किया कि दूधनाथ भाई सहज और प्रसन्न हैं।



## एक राजस्थानी सत्यकथा से जन्मी 'हार की जीत' कहानी

### बुद्धिनाथ मिश्र

बचपन में जिन कहानियों ने मेरे मन पर स्थायी प्रभाव डाला था, उनमें सुदर्शन की 'हार की जीत' प्रमुख थी। सुदर्शन (1896-1967) का मूल नाम पंडित बदरीनाथ भट्ट था। उनका जन्म स्यालकोट में हुआ था। वे प्रेमचंद के समकालीन थे और उन्हीं की तरह हिंदी-उर्दू दोनों भाषाओं में लिखते थे। 'हार की जीत' सुदर्शन की पहली कहानी थी, जो 'सरस्वती' में छपी थी। उनके कहानी संग्रहों में 'सुदर्शन सुधा', 'सुदर्शन सुमन', 'पनघट', 'तीर्थयात्रा', 'पुष्पलता', 'गल्पमंजरी' उल्लेखनीय हैं। उन्होंने सोहराब मोदी की कई सफल फिल्मों की पटकथा भी लिखी थी। 'तेरी गठरी में लगा चोर' और 'बाबा मन की आँखें खोल' जैसे लोकप्रिय गीतों के रचयिता भी वही थे। वर्धा से उनका विशेष संबंध यह था कि वे महात्मा गांधी की हिंदुस्तानी प्रचारिणी सभा, वर्धा के सम्मानित सदस्य थे। गांधी दर्शन से प्रभावित कथाकार सुदर्शन की कहानियों की मूल विशेषता हृदय परिवर्तन के नुस्खे से सामाजिक समस्याओं का समाधान और सर्वत्र पुण्य की विजय और मानवीय मूल्यों की स्थापना थी।

उनकी कालजयी कहानी 'हार की जीत' की भी यही विशेषता है, जहां बाबा भारती का एक उदार वाक्य डाकू खड्ग सिंह का हृदय परिवर्तन कर देता है। कहानी का नाभिस्थल वही वाक्य है, जो असहाय बाबा भारती विजयी डाकू खड्गसिंह से कहते हैं 'इस घटना को किसी से नहीं कहना। लोगों को यदि इस घटना का पता चला तो वे दीन-दुखियों पर विश्वास न करेंगे।' इस एक वाक्य ने हार को जीत में बदल दिया और वह डाकू उनका घोड़ा लौटाकर उनके घर तक पहुंचाने के लिए बाध्य हो गया।

मैंने इस वाक्य को जब पढ़ा था, तभी मुझे लगा था कि यह असाधारण वाक्य है, जिसका निर्माण गहरी अंतश्चेतना से ही हो सकता है। अकसर जीवन में ऐसी घटनाएं हो जाती हैं, जो मानव कल्पना से परे होती हैं। यह कहानी भी उसी प्रकार की है यानी यह कहानी जरूर किसी सत्य घटना पर आधारित है। और इसके उत्स का पता लगाना चाहिए। इस छोटी-सी शंका ने मुझे इस ओर विशेष पड़ताल की प्रेरणा दी, मगर वर्षों की खोज-बीन के बाद भी मुझे कोई ठोस सफलता नहीं मिली। मैंने हिंदी के कई प्रोफेसरों से भी इस संबंध में बात की, मगर हमेशा सेमिनारों के जुगत में रहनेवाले उन महानुभावों ने इस ओर कोई जिज्ञासा नहीं दिखाई। मैंने हार तो नहीं मानी थी, मगर जीत के कोई आसार भी नहीं दीख रहे थे।

इसी दौरान, एक दिन दिल्ली से शताब्दी एक्सप्रेस से देहरादून लौटते समय मुझे कलकत्ता के

परिचित उद्योगपति नंदलाल टांटिया मिल गए, जो एक अप्रिय घटना के बाद कलकत्ता के राजसी ठाट-बाट को तिलांजलि देकर, उत्तरकाशी के किसी पहाड़ी गांव में आश्रम बनाकर रहने लगे थे। वे कलकत्ता के बड़े उद्योगपति रामेश्वर टांटिया के सुपुत्र हैं। टांटियाजी प्रसिद्ध व्यवसायी होने के साथ-साथ सहृदय साहित्यानुरागी और समाजसेवी थे। वे 1957 से 1966 तक संसद सदस्य भी रहे। सरदारशहर (राजस्थान) में 1910 में जन्मे टांटियाजी से मेरा भी परिचय था। वे करोड़पति होकर भी खादी की मोटी धोती और मोटा कुर्ता पहनते थे। खूब लिखते थे। उनके 'विश्व यात्रा के संस्मरण' 'इतिहास के निर्झर' मेरा बचपन : मेरा गांव' अपने जमाने में खूब चर्चित भी हुए थे। कलकत्ता में रवीन्द्र सरोवर पर उनका आलीशान बंगला था, जहां कई बार आयोजनों में मैं जा चुका था। वर्ष 1977 में उनके निधन के बाद नंदलाल भाई ने भी उन्हीं के पदचिह्नों पर चलते हुए पारिवारिक कारोबार को आगे बढ़ाया। कलकत्ता की पुरानी बातों को याद करते हुए वह छोटी-सी यात्रा पलक झपकते पूरी हो गयी। देहरादून में उतरते समय नंदू भाई ने टांटियाजी की लिखी कुछ किताबें दीं। उन्हीं में एक थी 'भूले न भुलाए'। इसमें अनेक संस्मरणात्मक और ऐतिहासिक कथाएं हैं, जो उन्होंने अपने आसपास के लोकजीवन से ली थीं। इन्हीं में एक सत्यकथा है 'बलजी-भूरजी', जिसकी पटकथा 'हार की जीत' से बहुत मिलती है। इसमें बाबा भारती की जगह बिसाऊ कस्बे के धर्मप्राण सेठ खेतसीदास पोद्दार हैं, घोड़े की जगह ऊंट है और डाकू खड़गसिंह की जगह नानिया डाकू है।

बीसवीं सदी के प्रारंभ में शेखावाटी अंचल में बलजी-भूरजी डाकू सरदार का बड़ा दबदबा था। अपने सिद्धांत के अनुसार वह कभी ब्राह्मण, हरिजन, गांव की बहन-बेटी या किसी दुःखी-दरिद्र को नहीं सताता था। बाबा भारती के घोड़े की तरह ही सेठ पोद्दार के ऊंट की चर्चा आसपास के गांवों में थी। वह चील की तरह तेज चलता था, इसलिए उसका नाम चीलिया था। सुदर्शन ने भी घोड़े का नाम 'सुलतान' रखा है। अंतर यह है कि मूल घटना में बलजी-भूरजी स्वयं सेठजी को नहीं ठगता है, बल्कि उसके नाम पर लूट मचानेवाले नानिया नाम का एक निम्न कोटि का आदमी है। वह अर्धनग्न वृद्ध बनकर रास्ते पर बैठ जाता है और पैर में मोच आने का बहाना कर ऊंट पर चढ़ जाता है। उसके बाद वह सेठजी को झटका देकर नीचे गिरा देता है, जिससे सेठजी की घुटने की हड्डी टूट जाती है। नानिया अपना सही परिचय न देकर अपने को 'बलजी का आदमी' बताता है।

बलजी-भूरजी की उस इलाके में बहुत साख थी। उनका आदमी इस प्रकार धोखा दे, यह देखकर मर्माहत सेठजी ने नानिया से कहा- 'बलजी भूरजी डाकू जरूर हैं, पर कभी इस तरह की धोखेबाजी उन्होंने की है, यह सुनने में नहीं आया है। खैर, तुम जो कोई भी हो, तुम्हें जीण माता की सौगंध है कि आज की इस घटना की बात कहीं भी न कहना। तुम चाहो तो ऊंट के साथ दो सौ रुपये और दे दूंगा।'

नानिया को सेठ की बात समझ में नहीं आयी। तब उसे समझाते हुए सेठजी ने कहा - 'इस घटना की चर्चा यदि फैली तो भविष्य में लोग बूढ़ों या असहाय राहगीरों की सहायता करने से डरेंगे। उनमें इसमें धोखा नजर आएगा। मनुष्य का अपनी ही जाति पर से विश्वास उठा जाएगा।'

नानिया डाकू उन्हें घायल अवस्था में ही निर्जन वन में छोड़कर चला जाता है। दूसरे दिन सेठजी को दूढ़ते हुए लोग वहां आते हैं, उन्हें घर ले जाते हैं, मगर सेठजी ऊंट के बारे में किसी को नहीं बताते हैं। बाद में, जब बलजी-भूरजी को इस घटना की पूरी जानकारी मिलती है तो वह नानिया

के यहां से ऊंट लाकर सेठजी के नोहरे में बांध जाता है। चीलिया ऊंट के गले में तख्ती टंगी है- 'सेठ खेतसीदासजी को बलजी-भूरजी की भेंट। वे डाकू जरूर हैं, पर धोखेबाज नहीं।' अगले दिन नानिया की लाश झुंझुनू के पास की पहाड़ी की तलहटी में पायी जाती है। उसे प्राणदंड इसलिए दिया कि उसने अपने को 'बलजी-भूरजी का आदमी' बताकर धर्मप्राण सेठजी को धोखा दिया था।

एक कुशल रचनाकार अपने समय की सत्य घटना को लेकर कैसे उसे सजाता-संवारता है, उसकी काट-छांटकर कैसे घटनाओं और पात्रों को अपने मन के अनुसार गढ़ता है, इसका एक अच्छा उदाहरण यह कहानी है। यदि दोनों कहानियों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाए, तो कथा-लेखन की प्रक्रिया के बारे में अनेक बातें निकल सकती हैं। विज्ञ पाठक दोनों कहानियों को पढ़कर सत्यकथा और निर्मित कथा के अंतर को समझें और उसका विश्लेषण स्वयं करें, इसके लिए दोनों कथाएं प्रस्तुत हैं। पहले सुदर्शन की 'हार की जीत' और उसके बाद रामेश्वर टांटिया द्वारा प्रस्तुत सत्यकथा 'बलजी-भूरजी'।

### लेखकों से अनुरोध

- ◆ बहुवचन के लिए वैचारिक, आलोचनात्मक लेख, कहानी, संस्मरण, डायरी, यात्रा वृत्तांत आदि विधाओं में रचनाएं अधिकतम 3000 शब्दों में ही प्रेषित करें।
- ◆ लेख के अंत में अपना नाम, पता, फोन, ई-मेल आदि का उल्लेख करें।
- ◆ भेजी गई सामग्री स्पष्ट एवं पठनीय हो तथा पन्ने के एक तरफ लिखी गयी हो। बेहतर होगा कि लेख यूनिकोड/मंगल फॉन्ट में ही टाइप कराकर भेजें।
- ◆ चित्र एवं अन्य कॉपीराइट-सुरक्षित सामग्री के संदर्भ में : लेख में उपयोग हेतु आवश्यक अनुमति लेना लेखक का उत्तरदायित्व होगा।
- ◆ रचनाओं की स्वीकृति व अस्वीकृति की सूचना एक माह के अंदर दे दी जाएगी। रचनाओं की वापसी के लिए लिफाफा संलग्न करें।
- ◆ लेख के साथ भेजे गए पत्र में इस बात का उल्लेख अवश्य हो कि यह लेखक की मौलिक, अप्रकाशित और अप्रसारित रचना है तथा इसको प्रकाशन हेतु अन्यत्र नहीं भेजा गया है।

आप लेख [bahuvachan.wardha@gmail.com](mailto:bahuvachan.wardha@gmail.com) पर ई-मेल कर सकते हैं अथवा रजिस्ट्रीकृत डाक/स्पीड पोस्ट से निम्न पते पर भेज सकते हैं-

**संपादक**

बहुवचन

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)

मो. नं.- 09422386554, 7888048765

## हार की जीत

### सुदर्शन

सुदर्शन प्रेमचंद की परंपरा के कहानीकार कहे जाते हैं। मुंशी प्रेमचंद और उपेंद्रनाथ 'अशक' की भांति सुदर्शन हिंदी और उर्दू में लिखते थे। उनकी गिनती विश्वम्भर नाथ कौशिक, राजा राधिका रमण प्रसाद सिंह, भगवती प्रसाद वाजपेयी के साथ की जाती है। अपनी प्रायः सभी प्रसिद्ध कहानियों में लेखक ने समस्याओं का आदर्शवादी नजरिया रखा है। अंधकार, गुरुमंत्र, परिवर्तन, राजा, सच का सौदा उनकी कुछ अन्य कहानियां हैं। प्रस्तुत है एक राजस्थानी लोककथा से जन्मी हार की जीत कहानी एवं लोककथा की छायाप्रति :

मां को अपने बेटे और किसान को अपने लहलहाते खेत देखकर जो आनंद आता है, वही आनंद बाबा भारती को अपना घोड़ा देखकर आता था। भगवद्-भजन से जो समय बचता, वह घोड़े को अर्पण हो जाता। वह घोड़ा बड़ा सुंदर था, बड़ा बलवान। उसके जोड़ का घोड़ा सारे इलाके में न था। बाबा भारती उसे 'सुलतान' कहकर पुकारते, अपने हाथ से खरहरा करते, खुद दाना खिलाते और देख-देखकर प्रसन्न होते थे। उन्होंने रुपया, माल, असबाब, जमीन आदि अपना सब-कुछ छोड़ दिया था, यहां तक कि उन्हें नगर के जीवन से भी घृणा थी। अब गांव से बाहर एक छोटे-से मंदिर में रहते और भगवान का भजन करते थे। 'मैं सुलतान के बिना नहीं रह सकूंगा', उन्हें ऐसी भ्रांति सी हो गई थी। वे उसकी चाल पर लडू थे। कहते, 'ऐसे चलता है जैसे मोर घटा को देखकर नाच रहा हो।' जब तक संध्या समय सुलतान पर चढ़कर आठ-दस मील का चक्कर न लगा लेते, उन्हें चैन न आता।

खडगसिंह उस इलाके का प्रसिद्ध डाकू था। लोग उसका नाम सुनकर कांपते थे। होते-होते सुलतान की कीर्ति उसके कानों तक भी पहुंची। उसका हृदय उसे देखने के लिए अधीर हो उठा। वह एक दिन दोपहर के समय बाबा भारती के पास पहुंचा और नमस्कार करके बैठ गया। बाबा भारती ने पूछा, 'खडगसिंह, क्या हाल है?'

खडगसिंह ने सिर झुकाकर उत्तर दिया, 'आपकी दया है।'

'कहो, इधर कैसे आ गए?'

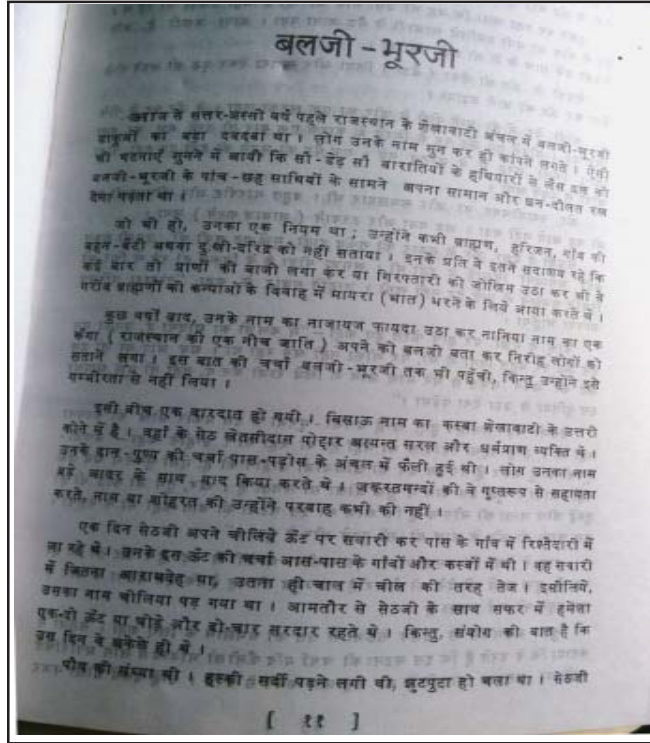
'सुलतान की चाह खींच लाई।'

'विचित्र जानवर है। देखोगे तो प्रसन्न हो जाओगे।'

'मैंने भी बड़ी प्रशंसा सुनी है।'

'उसकी चाल तुम्हारा मन मोह लेगी!'

'कहते हैं देखने में भी बहुत सुंदर है।'



‘क्या कहना! जो उसे एक बार देख लेता है, उसके हृदय पर उसकी छवि अंकित हो जाती है।’  
 ‘बहुत दिनों से अभिलाषा थी, आज उपस्थित हो सका हूँ।’

बाबा भारती और खड़गसिंह अस्तबल में पहुंचे। बाबा ने घोड़ा दिखाया घमंड से, खड़गसिंह ने देखा आश्चर्य से। उसने सैंकड़ों घोड़े देखे थे, परंतु ऐसा बांका घोड़ा उसकी आँखों से कभी न गुजरा था। सोचने लगा, भाग्य की बात है। ऐसा घोड़ा खड़गसिंह के पास होना चाहिए था। इस साधु को ऐसी चीजों से क्या लाभ? कुछ देर तक आश्चर्य से चुपचाप खड़ा रहा। इसके पश्चात उसके हृदय में हलचल होने लगी। बालकों की-सी अधीरता से बोला, ‘परंतु बाबाजी, इसकी चाल न देखी तो क्या?’

दूसरे के मुख से सुनने के लिए उनका हृदय अधीर हो गया। घोड़े को खोलकर बाहर गए। घोड़ा वायु-वेग से उड़ने लगा। उसकी चाल को देखकर खड़गसिंह के हृदय पर सांप लोट गया। वह डाकू था और जो वस्तु उसे पसंद आ जाए उस पर वह अपना अधिकार समझता था। उसके पास बाहुबल था और आदमी भी। जाते-जाते उसने कहा, ‘बाबाजी, मैं यह घोड़ा आपके पास न रहने दूंगा।’

बाबा भारती डर गए। अब उन्हें रात को नींद न आती। सारी रात अस्तबल की रखवाली में कटने लगी। प्रति क्षण खड़गसिंह का भय लगा रहता, परंतु कई मास बीत गए और वह न आया। यहां तक कि बाबा भारती कुछ असावधान हो गए और इस भय को स्वप्न के भय की नाई मिथ्या समझने लगे। संध्या का समय था। बाबा भारती सुलतान की पीठ पर सवार होकर घूमने जा रहे थे।



इस समय उनकी आँखों में चमक थी, मुख पर प्रसन्नता। कभी घोड़े के शरीर को देखते, कभी उसके रंग को और मन में फूले न समाते थे। सहसा एक ओर से आवाज आई, 'ओ बाबा, इस कंगले की सुनते जाना।'

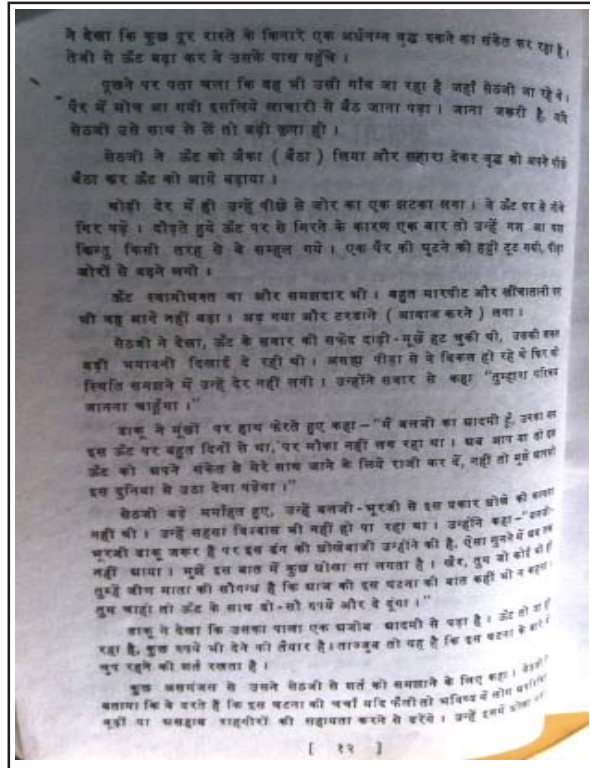
आवाज में करुणा थी। बाबा ने घोड़े को रोक लिया। देखा, एक अपाहिज वृक्ष की छाया में पड़ा कराह रहा है। बोले, 'क्यों तुम्हें क्या कष्ट है?'

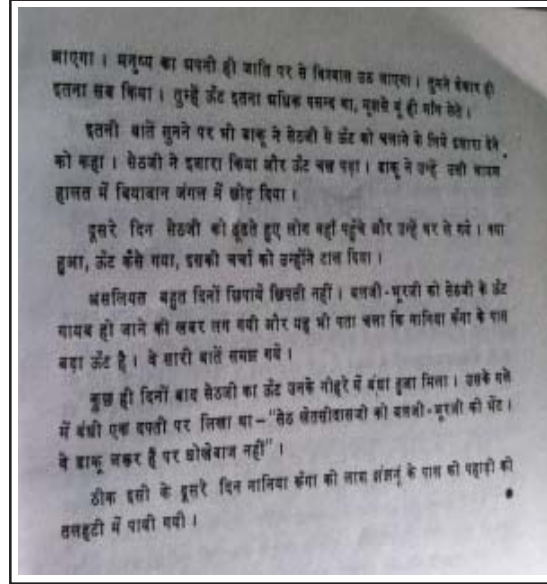
अपाहिज ने हाथ जोड़कर कहा, 'बाबा, मैं दुखियारा हूँ। मुझ पर दया करो। रामावाला यहां से तीन मील है, मुझे वहां जाना है। घोड़े पर चढ़ा लो, परमात्मा भला करेगा।'

'वहां तुम्हारा कौन है?'

'दुगार्दत्त वैद्य का नाम आपने सुना होगा। मैं उनका सौतेला भाई हूँ।'

बाबा भारती ने घोड़े से उतरकर अपाहिज को घोड़े पर सवार किया और स्वयं उसकी लगाम पकड़कर धीरे-धीरे चलने लगे। सहसा उन्हें एक झटका-सा लगा और लगाम हाथ से छूट गई। उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब उन्होंने देखा कि अपाहिज घोड़े की पीठ पर तनकर बैठा है और घोड़े को दौड़ाए लिए जा रहा है। उनके मुख से भय, विस्मय और निराशा से मिली हुई चीख निकल गई। वह अपाहिज डाकू खड़गसिंह था। बाबा भारती कुछ देर तक चुप रहे और कुछ समय पश्चात् कुछ निश्चय करके पूरे बल से चिल्लाकर बोले, 'जरा ठहर जाओ।'





खड़गसिंह ने यह आवाज सुनकर घोड़ा रोक लिया और उसकी गरदन पर प्यार से हाथ फेरते हुए कहा, 'बाबाजी, यह घोड़ा अब न दूंगा।'

'परंतु एक बात सुनते जाओ।' खड़गसिंह ठहर गया।

बाबा भारती ने निकट जाकर उसकी ओर ऐसी आँखों से देखा जैसे बकरा कसाई की ओर देखता है और कहा, 'यह घोड़ा तुम्हारा हो चुका है। मैं तुमसे इसे वापस करने के लिए न कहूंगा परंतु खड़गसिंह, केवल एक प्रार्थना करता हूँ इसे अस्वीकार न करना, नहीं तो मेरा दिल टूट जाएगा।'

'बाबाजी, आज्ञा कीजिए। मैं आपका दास हूँ, केवल घोड़ा न दूंगा।'

'अब घोड़े का नाम न लो। मैं तुमसे इस विषय में कुछ न कहूंगा। मेरी प्रार्थना केवल यह है कि इस घटना को किसी के सामने प्रकट न करना।'

खड़गसिंह का मुँह आश्चर्य से खुला रह गया। उसका विचार था कि उसे घोड़े को लेकर यहाँ से भागना पड़ेगा, परंतु बाबा भारती ने स्वयं उसे कहा कि इस घटना को किसी के सामने प्रकट न करना। इससे क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है? खड़गसिंह ने बहुत सोचा, बहुत सिर मारा, परंतु कुछ समझ न सका। हारकर उसने अपनी आँखें बाबा भारती के मुख पर गड़ा दीं और पूछा, 'बाबाजी इसमें आपको क्या डर है?'

सुनकर बाबा भारती ने उत्तर दिया, 'लोगों को यदि इस घटना का पता चला तो वे दीन-दुखियों पर विश्वास न करेंगे।' यह कहते-कहते उन्होंने सुल्तान की ओर से इस तरह मुँह मोड़ लिया जैसे उनका उससे कभी कोई संबंध ही नहीं रहा हो।

बाबा भारती चले गए। परंतु उनके शब्द खड़गसिंह के कानों में उसी प्रकार गूँज रहे थे। सोचता था, कैसे ऊंचे विचार हैं, कैसा पवित्र भाव है! उन्हें इस घोड़े से प्रेम था, इसे देखकर उनका मुख फूल की नाईं खिल जाता था। कहते थे, 'इसके बिना मैं रह न सकूंगा।' इसकी रखवाली में वे कई रात

सोए नहीं। भजन-भक्ति न कर रखवाली करते रहे परंतु आज उनके मुख पर दुःख की रेखा तक दिखाई न पड़ती थी। उन्हें केवल यह ख्याल था कि कहीं लोग दीन-दुखियों पर विश्वास करना न छोड़ दे। ऐसा मनुष्य, मनुष्य नहीं देवता है।

रात्रि के अंधकार में खड़गसिंह बाबा भारती के मंदिर पहुंचा। चारों ओर सन्नाटा था। आकाश में तारे टिमटिमा रहे थे। थोड़ी दूर पर गांवों के कुत्ते भौंक रहे थे। मंदिर के अंदर कोई शब्द सुनाई न देता था। खड़गसिंह सुल्तान की बाग पकड़े हुए था। वह धीरे-धीरे अस्तबल के फाटक पर पहुंचा। फाटक खुला पड़ा था। किसी समय वहां बाबा भारती स्वयं लाठी लेकर पहरा देते थे, परंतु आज उन्हें किसी चोरी, किसी डाके का भय न था। खड़गसिंह ने आगे बढ़कर सुल्तान को उसके स्थान पर बांध दिया और बाहर निकलकर सावधानी से फाटक बंद कर दिया। इस समय उसकी आँखों में नेकी के आँसू थे। रात्रि का तीसरा पहर बीत चुका था। चौथा पहर आरंभ होते ही बाबा भारती ने अपनी कुटिया से बाहर निकल ठंडे जल से स्नान किया। उसके पश्चात्, इस प्रकार जैसे कोई स्वप्न में चल रहा हो, उनके पांव अस्तबल की ओर बढ़े परंतु फाटक पर पहुंचकर उनको अपनी भूल प्रतीत हुई। साथ ही घोर निराशा ने पांव को मन-मन भर का भारी बना दिया। वे वहीं रुक गए। घोड़े ने अपने स्वामी के पांवों की चाप को पहचान लिया और जोर से हिनहिनाया। अब बाबा भारती आश्चर्य और प्रसन्नता से दौड़ते हुए अंदर घुसे और अपने प्यारे घोड़े के गले से लिपटकर इस प्रकार रोने लगे मानो कोई पिता बहुत दिन से बिछड़े हुए पुत्र से मिल रहा हो। बार-बार उसकी पीठ पर हाथ फेरते, बार-बार उसके मुंह पर थपकियां देते। फिर वे संतोष से बोले, 'अब कोई दीन-दुखियों से मुंह न मोड़ेगा।'



### पाइपर-माउस

राजेंद्र चंद्रकांत राय

नाबार्ड को राष्ट्रीय संगोष्ठियां करने की आदत है। उसका ऑडीटोरियम आधे साल संगोष्ठियों से भरा रहता है। पादप रोगों पर खत्म नहीं हुई कि आनुवंशिक-समस्याओं पर शुरू हो गयी। औषधीय फसलों पर प्लान की जा रही है और मुर्गी में आए बर्ड-लू पर विचार चल पड़ा। उनके पास असंख्य विषय हैं और कारुं का खजाना भी है। खुद का बजट तो है ही, आई सी ए आर, कृषि-मंत्रालय और अंतरराष्ट्रीय फंडिंग-एजेंसियों और विश्व बैंक का प्रायोजन भी हासिल रहता है।

‘किसानों का शत्रु कृंतक-चूहा’ पर अंतरराष्ट्रीय-स्तर की संगोष्ठी को विश्व बैंक ने प्रायोजित किया था। इसमें राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय ख्याति के वैज्ञानिक, जीवशास्त्री, आनुवंशिकी के विशेषज्ञ, किसान, सामाजिक कार्यकर्ता और गैर-सरकारी संगठनों के प्रतिनिधियों को आमंत्रित किया गया था। एक सामाजिक कार्यकर्ता होने के नाते मुझे भी आमंत्रण मिला था। आने-जाने के लिए ए.सी. टू-टीयर का किराया उपलब्ध कराया गया था और पांच-सितारा होटल में ठहरने की सुविधा। होटल से बांद्रा-कुर्ला कॉम्प्लेक्स नामक बहु-मंजिला भवन में पहुंचाने के लिए एयर-कंडीशंड बस थी। खुद संगोष्ठी-शाला इतनी उच्चकोटि की व्यवस्थाओं और भव्यता से युक्त थी, कि प्रवेश करते समय मैं हीनता-बोध की ठंडी लहर से विचलित हो रहा था। हालांकि अभ्यास होने के कारण मैंने जल्दी ही उस पर काबू पा लिया था।

बरामदे ग्रेनाइट-टाइल्स के थे और झकाझक चमक रहे थे। फिसल जाने का पूरा इंतजाम था, पर हमें अपने को सम्हालना था। महकती हुई खूबसूरत युवतियां, सीने पर बड़े-बड़े बैज लगाकर स्वागतोत्सुक-मुद्रा में इस तरह मुस्कुरा रही थीं, कि वह मुस्कान असली होने का वहम पैदा करने लगे। हममें से कई लोग जवाबी मुस्कान के साथ पेश आए। एक युवती ने माथे पर तिलक लगाया, दूसरी ने शाख-युक्त गुलाब-पुष्प भेंट किया। रजिस्ट्रेशन काउंटर पर खूबसूरत पोर्टफोलियो दिए गए, और इस तरह विश्व-बैंक भारत आकर, भारतीय लिबास धारण कर, भारतीय-मुद्राओं में तिरोहित हो गया।

ग्लेज्ड-टाइल्स और ग्रेनाइट-पत्थरों के प्रयोग से उत्पन्न भव्यता के चंगुल में तो थे ही, विश्व-बैंक के चंगुल में भी हम मुस्कुराते-मुस्कुराते, बिना किसी नैतिक-बाधा के चले गए। अंदर वातानुकूलन की शीतल-सिहरन और एक खास किस्म की भीनी-भीनी सुगंध में हम सराबोर हुए। भव्यता का अचंभा वहां भी बाहें पसारकर खड़ा मिला। कुशनदार मन-भावन आसंदी, हरे रंग का लुभावन कार्पेट, सीढ़ीदार ऑडीटोरियम, छत से झरती-नीली-दूधिया रोशनी और ज्योति-प्रपात में नहाता हुआ विराट मंच। मंच-सज्जा को नयनाभिराम कहने के लिए जीभ ब्याकुल हुई। अंग्रेजी-भाषा में संगोष्ठी के

विषय का कीमती बैनर। उत्कृष्ट मेजें और कुर्सियां। सूट की मूल्यवत्ता में लापता-व्यक्तित्व वाले, दौड़ते-कैमरों का वजूद, फोटोग्राफरों की धमा-चौकड़ी। बावजूद इसके सारी हबड़-दबड़ में भी शिष्टता-शालीनता का दबाव। सब कुछ अहा-अहा लग रहा था।

पोर्टफोलियो को सीने से चिपकाए, अपने लिए आसंदी का चुनाव करते हुए, मैं सामने से दूसरी कतार में धंसा और मक्खन जैसी धसक में धीरे-धीरे समा गया। समाया ही था कि आसंदी बहुत आदरणीय विधि से पीछे को फैल गयी और मेरी पीठ को अपने कोमल-स्पर्श से छूने लगी। पोर्टफोलियो खोला। उसमें रखी पुस्तकें, संगोष्ठी में पेश किए जाने वाले शोध-पत्रों का संक्षेपण, कार्यक्रम की रूपरेखा और मोटी नोटबुक थी। उम्दा पेन था और लिखावट रेशमी। अब मेरा ध्यान पड़ोसियों पर गया। उधर एक प्रौढ़ और इधर एक मह-मह करती महिला थीं। उधर से गरिमा बह रही थी और इधर से मंहगी खुशबू। बीच में मैं था- संतुलन साधता-सा। संतुलन साधते ही असाध्य होने लगा, क्योंकि जूते के ऊपर मोजों के पास कोई गुलगुली-काया, अपनी बेचैनी सहित मौजूद लग रही थी। अपनी मध्यवर्गीय-हड़बड़ाहट पर भरपूर काबू पाते हुए मैंने थोड़ा-सा पैर उठाया और थोड़ी सी गरदन झुकाई। एक चूहा था- फुदककर कार्पेट की कुंज-गलिन में भागने की व्याकुलता में, वह उन देवी जी की फाल लगी साड़ी की किनार को छूता हुआ दौड़ा। वे मुझसे ज्यादा चौकीं। हड़बड़ाईं। फिर मेरी तरफ मुस्कराते हुए बोलीं- माउस।

मैंने कहा- आखिर सेमिनार का वह अहम् हिस्सा है...!

वे किफायत से हँसी। लिपिस्टिक जरा हिल-डुल कर सम हो गयी।

मैंने बात आगे बढ़ायी- अब आयोजक पर यह आरोप नहीं लग सकता, कि उन्होंने संगोष्ठी के सभी पक्षों को आमंत्रित नहीं किया है।

इस बार वे इस तरह मुस्करायीं कि यह आखिरी है और अब वे मुझ पर इससे ज्यादा मुस्कान नहीं लुटा सकतीं। मैंने भी कोई आपत्ति नहीं की।

एकाएक कैमरे चमकने लगे। वीडियो कैमरे चल पड़े और बैजधारी सूट-बूट बेवजह दौड़ने की मुद्राएं धारण करने लगे। चेरपरसन पधार रही थीं। दर्शकों ने गर्दनें घुमायीं और कैमरों की आड़ में आती एक तनी हुई आकृति की झलक पायी। उद्घाटन सत्र चला। उन्होंने आंग्ल भाषा में सारगर्भित भाषण दिया और हम सबके पधारने पर स्वागत किया। फिर मुख्य कार्यक्रम की बारी आयी। मंच का सरंजाम बदल दिया गया। वरिष्ठ विशेष अतिथिगण अपनी महिमा को सम्हालते हुए आए और अपनी नामावलियों के अनुसार बैठ गए। संचालनकर्ता ने हम सबसे उनका परिचय कराया। सत्कार हुआ। गुलदस्ते कुछ हाथों से होकर, कुछ हाथों में गए और अंततः मेज पर जा लेते। उदासी और मुरझावन उन पर बरसने लगी। संचालक ने मुख्य वक्ता के रूप में डॉ. अशोक कुमार को आमंत्रित किया। वे अपनी शोध-प्रस्तुति के लिए मंच पर आए। वे प्रौढ़तर आयु के वैज्ञानिक थे, जिन्होंने अब तक का कुल जीवन चूहों पर अनुसंधान करपे में ही लगाया था। वे चूहा-विशेषज्ञ की पहचान बना चुके थे।

पहली स्लाइड आयी। धुंधलापन लिए हुए एक अक्स उभरा। फोकस ठीक किया गया। स्क्रीन पर एक चूहा दिखाई पड़ने लगा। उसके शरीर पर 'वेलकम' मुद्रित था। चूहा हमारा सवागत कर रहा था और हम लोग चूहे का।

दूसरी स्लाइड आयी- 'कृतक नियंत्रण : प्रबंध और उपाय' - डॉ. अशोक कुमार। उन्होंने संबोधित किया- आदिम युग से आज तक मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकता भोजन रही है और भविष्य में भी बनी रहेगी। जनसंख्या वृद्धि के कारण खाद्यान्न उत्पादन बढ़ाने के लिए अनुसंधान किए जा रहे हैं। कृषि वैज्ञानिकों ने इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण उपलब्धियां हासिल की हैं। दुनिया इसे 'हरित क्रांति' के नाम से जानती है।

डॉ. अशोक कुमार पल भर के लिए रुके फिर किसी रहस्य पर से पर्दा उठाने वाले अंदाज में बोले- लेकिन हमारी सारी उपलब्धियों का हमारा एक जानी दुश्मन बरबाद कर रहा है। उसका नाम है- चूहा। जी हां, हम सदियों से उसके निशाने पर हैं। हमारी प्रगति, आत्मनिर्भरता और जीवन का शत्रु यही है। पहचान लीजिए इसका असली रूप। आईए, अब इससे निपटने के उपाय करते हैं। जड़ से ही साफ कर दें अपने दुश्मन को। न रहेगा चूहा और न चरेगा हमारी हरित क्रांति को।

तालियां।

कुछ पल अशोक कुमार खामोश रहे और गत्र को अपनी गर्दन पर चढ़ने का अवकाश देते रहे। फिर दूने जोश में बोले- हमारे देश में इस समय चूहों की आबादी दस अरब है। यानी मनुष्यों की तुलना में नौ गुना ज्यादा। मतलब एक आदमी पर नौ चूहे। अभिमन्यु की तरह चूहे उसे घेरे में लेकर मिटा डालने पर आमादा हैं।

विराम!

सन्नाटा!

वे अगला प्रहार करने के अंदाज में बोले- एक चूहा 24 घंटे में 21 ग्राम अनाज खा जाता है। यानी एक दिन में वे हमारा 21 हजार टन अनाज भकोस लेते हैं...। इसका अर्थ यह हुआ मित्रों कि यह जरा सा चूहा अपनी आबादी के जरिए एक साल में हमारा 76 लाख टन से भी ज्यादा अन्न खा जाता है। किसानों की आत्महत्या का असली कारण तो यह है...।

तालियां।

...इतना ही नहीं इसका दस गुना अन्न तो वे बरबाद कर देते हैं।

विराम।

डॉ. अशोक कुमार ने हमें हैरत के सुरसा-मुख में पहुंचा दिया था और अब हमारी दशा निहारने में लगे हुए थे। फिर वे पीछे की ओर पलटे- नेक्स्ट...।

स्क्रीन पर स्लाइड।

चूहों का जीवनकाल : कुछ तथ्य

आयु : दो से तीन वर्ष

प्रजनन परिवक्ष्यता : 3 माह

गर्भकाल : 21 दिन

प्रजनन क्षमता : 5-10 शिशु। (कभी-कभी 21 तक)

वार्षिक प्रजनन आवृत्ति : 4-6 बार

डॉ. अशोक कुमार एक नए बम के साथ पुनः मुखातिब हुए- एक चूहे की उम्र 2-3 साल होती है। मादा चूहा मात्र तीन माह में प्रजनन-योग्यता हासिल कर लेती है। गर्भकाल सिर्फ 21 दिन का

होता है और वह एक बार में 5 से 10 चूहों को जन्म देती है। वह अपने जीवनकाल में 12 से 18 बार प्रजनन करती है और चूहों की भीषण आबादी बढ़ाती रहती है।

विराम।

वे एक कदम आगे आए और सरगोशी करने वाले अंदाज में बोले- चूहों का एक जोड़ा पैंतीस करोड़ चूहों के जन्म का कारण बनता है...पैंतीस करोड़...।

ऑडीटोरियम में हलचल मच गयी।

पहलू बदले जाने लगे।

खुसर-फुसर होने लगी।

उधर डॉ. की भयानक आवाज माइक्रोफोन पर गूंजी- जी हां, पैंतीस करोड़ चूहे पैदा होते हैं, चूहे के एक जोड़े से...।

वे अशोक थे और शोक-सर्जक बने हुए थे।

वे मुस्कराए- भरोसा नहीं हो रहा है न... नहीं होगा...। मुझे भी नहीं हुआ था, मगर जब आप तीन केलकुलेटर लेकर गणना करने बैठेंगे और तीन माह में उनका गुणन-बहुगुणन निकालेंगे, तो सत्य को पा लेंगे। प्यारे मित्रों! सत्य फिसलन-भरा होता है- हाथ से फिसल जाता है। उसे सम्हालना, पाने से ज्यादा मुश्किल है। मैंने..., आपके इस डॉ. अशोक कुमार ने अपना पूरा यौवनकाल चूहों पर होम कर दिया...तब, तब कहीं सत्य का कुछ भाग हाथ में आया है ...

वे हंस- घर जाकर केलकुलेट कीजिएगा, यहां आगे बढ़ते हैं... ओ. के.... नेक्स्ट...।

अगली स्लाइड स्क्रीन पर आयी।

### चूहों की प्रमुख जातियां

1. घरेलू चूहा (रेटस रेटस) : रंग काला-भूरा, कान बड़े, शरीर के अनुपात में पूंछ बड़ी, बिल की मिट्टी भुरभुरी-दानेदार, बिल का मुंह खुला रहता है।
2. छोटी घूस (बेंडीकोटा बेंगालेंसिस) रंग भूरा, रोम छोटे और कड़े, पूंछ शरीर से छोटी या बराबर, देखने में खूंखार, बिल की मिट्टी चिकनी-भुरभुरी, बिल का मुंह मिट्टी से ढंका रहता है।
3. घरेलू चुहिया (मस मसकुलस) : घरेलू चूहे की तुलना में छोटी, शरीर की तुलना में पूंछ लंबी, काला-भूरा रंग, रोम मुलायम, घरों के अनाज-गोदामों पायी जाता है।
4. मुलायम बालों वाला चूहा : घरेलू चूहे से छोटा, पेट का रंग श्वेत, पूंछ शरीर के बराबर (मिलारडिया मेलटाडा) यह कभी-कभी छोटी बिल साधारण, सिंचाई वाले खेतों में पाया जाता है।
5. खेत की चुहिया (मस बुडुगवा) : आकार छोटा, बाल चिकने, बिल छोटा।
6. भारतीय जर्बिल (टटेरा इंडिका) रंग काला-भूरा, पूंछ के छोर बालों का गुच्छा, पहाड़ी स्थानों पर निवास।
7. जंगली चुहिया (मस सेक्सीकोला) आकार, खेत की चुहिया जैसा, जंगलों में निवास।

डॉ. अशोक कुमार ने इस स्लाइड पर इतना ही कहा- अपने शत्रु को खूब अच्छी तरह पहचान लीजिए। फिर बताया कि चूहे फसलों की बुवाई के समय से नुकसान पहुंचाने लगते हैं। ज्यों-ज्यों फसल बढ़ती है, चूहों का भी प्रकोप बढ़ता जाता है। चूहे अपने बिलों में अनाज संग्रहीत करते जाते हैं। वे बोले- अब आते हैं असली बात पर कि नियंत्रण कैसे किया जाए?

उन्होंने पीछे मुड़कर कहा- नेक्स्ट।

स्क्रीन पर रंगीन ताजगी वाली अगली स्लाइड आ गयी।

#### चूहा नियंत्रण की विभिन्न विधियां

1. **कृषिगत** : अधिक से अधिक रकबे में एक साथ बोनी करें। खेत साफ और संकरे हों।
2. **भैतिक** : चूहों के बिलों में पानी भरें। भागने पर चूहों को लाठियों से मार डालें।
3. **यांत्रिक** : चूहेदानियों का प्रयोग करें। (जैसे तार वाली चूहेदानी, चटकनीदार ट्रेप, सरमन ट्रेप आदि)।
4. **जैविक** : नेवला, बिल्ली, सांप, उल्लू पालें।
5. **रासायनिक** जहरीली दवाओं का प्रयोग करें (जैसे जिंक फास्फाइड, ब्रोमोडियोलान - 0.005, एल्यूमीनियम, फास्फाइड (सलफास) आदि।

नोट : जहरीली दवाओं का प्रयोग सावधानी से करें।

डॉ. अशोक कुमार ने प्रत्येक पद्धति को विस्तार से समझाया, क्योंकि संगोष्ठी का मुख्य उद्देश्य यही था। फिर कहा- नेक्स्ट।

तब एक और नयी स्लाइड पर्दे पर आयी।

#### चूहा : कुछ रोचक तथ्य

- संसार में चूहों की 500 प्रजातियां पायी जाती हैं।
- चूहों के दांत हर माह एक सेंटीमीटर बढ़ते हैं।
- चूहे बिना भोजन के सात दिन और बिना पानी के 2 दिन तक जीवित रह सकते हैं।
- चूहे तैरकर एक किलोमीटर तक जा सकते हैं।
- चूहे अपने बिलों में आठ किलोग्राम तक अनाज संग्रहित कर सकते हैं।

इसके पश्चात एक और स्लाइड आयी जिसमें बड़े-बड़े अक्षरों में 'थैंक्यू' लिखा हुआ था।

डॉ. अशोक कुमार दो कदम आगे आए- दोस्तो, चूहे से बड़ा कोई और मानवता का दुश्मन नहीं हो सकता। कोई आतंकवाद भी शायद इतना खतरनाक नहीं हो सकता, जितना ये चूहा हो सकता है। वे तो हमें मारने के लिए बम और एके- 47 वगैरह लेकर आते हैं और यह है कि वैपन्स के बिना ही हमें खत्म कर देने की गुपचुप चाल चल रहा है। आप सबसे अनुरोध है कि आज से ही इसे मिटा डालने का संकल्प ले लें। यदि हमें अपनी अरब की संख्या को पार कर गयी भारी जनसंख्या को खाद्यान्न उपलब्ध कराना है, तो चूहे से निजात पानी ही होगी, अन्यथा हमारे किसानों, कृषि-वैज्ञानिकों और सरकार की अथक मेहनत से उगाया गया अन्न इस दुश्मन के पेट में जाता रहेगा। धन्यवाद।

ऑडीटोरियम ने उतनी ही जोर से तालियां बजायीं, जितना कि वह अपने इस मासूम दुश्मन से डर गया था। डॉ. अशोक कुमार ने सवाल पूछने के लिए कहा, किंतु हाथ नहीं उठे।

एल सी डी ऑफ।

लाइट्स ऑन।

लोग पहलू बदलने लगे। बाजू वाले से अपनी राय जाहिर करने का मौका हाथ लगा। वातानुकूलन से ठंडे पड़ गए शरीर में जम्हाइयों की लहरें उठीं। टी-ब्रेक की घोषणा हुई और लोग उठने लगे।



बाहर चाय, कॉफी और कोल्डड्रिंक्स हमारी प्रतीक्षा में थे। एकदम कंठ में प्रविष्ट होने को तैयार। सुनीता नारायण के कीटनाशक-विरोधी आवेश को धकियाकर, वैज्ञानिक लोग अपने पेट में बहुराष्ट्रीय-सद्भाव जमा करने में जुट गए थे। बिस्किट खाते हुए मेरी नजर ऑडीटोरियम के प्रवेश-द्वार से शुरू होने वाले कार्पेट पर बैठे चूहे पर पड़ी। वह पश्चपादों पर बैठा हुआ था और दोनों अग्रपादों को धूथन पर रखे हुए थर-थर कांप रहा था। वातानुकूलित-शीतलता का प्रभाव होगा। पर वह बड़ा क्यूट लग रहा था। कदाचित् यह वही चूहा होगा, जो मेरे पैरों पर और देवीजी की साड़ी पर चढ़ चुका था।

हम नयी-नयी सूचनाओं से समृद्ध हो रहे थे और अलकायदा तथा लश्कर-ए-तय्यबा से ज्यादा खतरनाक दुश्मन को पहचान लेने में सफल हो गए थे।

...तो चूहा इतना बड़ा शत्रु है और अब तक हमें पता न था। उस पर कमाल यह कि वह मजे से हमारे ही घरों में अड्डा बनाए हुए है। हमारा खाता है, किचन में सरेआम घूमता-फिरता है और हम हैं कि उसकी असलियत से नावाक़िफ पड़े हैं, वाह...सचमुच कमाल है। अच्छा है कि दुनिया में डॉ. अशोक कुमार जैसे वैज्ञानिक और आई.सी.ए.आर., वर्ल्ड बैंक तथा नाबार्ड जैसी संस्थाएं हैं, वरना, न जाने हमारा क्या होता...?

पाठकों, चूहे ने संगोष्ठी के समापन का इंतजार नहीं किया। अपनी व्याकुल अवस्था में ही वह बहिर्गमन कर गया। नाबार्ड की आलीशान और गगनचुंबी इमारत वैसे भी उसे कभी पसंद नहीं आयी। बाहर से वह जितनी आशाजनक दिखाई देती थी, अंदर से उतनी ही निराशापूर्ण और खोखली थी। वहां रोटी के चंद टुकड़ों तक का अकाल पड़ा रहता है। इस बहुमंजिला इमारत में सैंकड़ों कक्ष थे, परंतु दरिद्रता उनमें लबालब भरी हुई थी। बिस्किट, पेस्ट्री और ब्रेड की झरी हुई किरचें मिल जाएं तो मिल जाएं, वरना... फिनाइल की दुर्गंध के अलावा यहां क्या रखा है...? हजारों आदमी अपने-अपने टिफिन लटकाए इस इमारत में रोज घुसते हैं, लेकिन हैं इतने चीमड़ कि रोटी का एक टुकड़ा तक नहीं गिराते। गिर ही जाए तो तुरंत उठा लेते हैं। टिफिन इस तरह बंद करके रखते हैं कि हवा तक उसमें घुस नहीं पाती। बस संगोष्ठियों, कार्यशालाओं, सम्मेलनों में होने वाले लंच ही एकमात्र आकर्षण रह गए हैं। बाहर से आए हुए लोग खाते समय जरूर गिराते हैं। जूठी प्लेटें इकट्ठा करने के लिए रखे गए पात्रों में भी खाने का जुगाड़ जम जाता है। तब चूहा खाता नहीं, जितना बटोरा जा सके, बटोरने में लगा रहता है। उन टुकड़ों को वह किसी अदृश्य जगह में छुपा देता है और बाद में थोड़ा-थोड़ा करके अपने परिवार के लिए ले जाता है।

चूहे का परिवार इस आलीशान इमारत के सामने वाली सड़क के पार झोपड़पट्टी इलाके की एक झोपड़ी में रहता है। झोपड़ी वाले, आलीशान इमारत वालों की तुलना में थोड़ा बेहतर हैं, खाने को ज्यादा ढांक-मूंद कर नहीं रखते। रोटियां तो अकसर खुली रखी रहती हैं। झोपड़ी वाले खा-पीकर काम पर चले जाते हैं, फिर तो पूरी झोपड़ी में चूहों का राज हो जाता है। झोपड़ी भी इतनी बढ़िया कि कहीं से भी घुस जाओ और जब जी चाहे निकल आओ। चूहे ने अपने परिवार को यहीं बसा दिया है। चूहे के परिवार के आठ-दस सदस्यों का तो जीवन यहां चलता ही है, दूसरे दो-चार चूहे भी आतिथ्य कर जाते हैं। जिन चूहों पर तंगी के दिन आते हैं, वे भी यहीं चले आते हैं... झोपड़-पट्टी के चूहों के पास। उन्हें ये चूहे 'मेहमान' कहते हैं, शरणार्थी नहीं। चूहा यों भी उदार है और वैसे ही

उदार हैं झोपड़ी में रहने वाले लोग। चूहे ने चूहा समाज में कह रखा है कि बाहर-गांव से मुंबई आने वाले चूहों को जब तक ठौर-ठिकाना न मिले, झोपड़पट्टी इलाके में आकर निस्संकोच रह सकते हैं। अपना, अपनों के काम नहीं आएगा, तो फिर कौन आएगा। भाई-चारे से ही दुनिया चल रही है।

तो चूहा व्याकुलता और सदमें की हालत में, किसी तरह अपनी झोपड़ी तक आया। हालांकि, उसके हाथ-पैर नाकाम हुए जा रहे थे। उनमें थरथराहट भरी थी। उसने परिवार को आवाज दी। बिलों और अतरों-कुतरों से निकल-निकल कर वे जमा हो गए। चूहे ने सब पर नजर, डाली। कुछ युवा चूहे नदारद मिले। मादा चूहे ने आँखें झुकाकर कहा कि वे यहीं-कहीं होंगे, शायद आते हों। चूहा नाराज हुआ। उसने चुहिया को फटकार लगायी- यह सब तुम्हारे प्यार का नतीजा है...। तुम नहीं जानती कि कितना खराब समय आ गया है...। चारों तरफ आदमी ही आदमी बिलबिलाने लगे हैं- हर वक्त खतरा रहता है...।

चुहिया ने अपराधिनी की तरह गर्दन झुका दी। निरीहता उसके थूथन से टपकने लगी। चूहा नरम पड़ गया- अच्छा, अब आगे से जरा ध्यान रखना...। मैं जो कह रहा हूँ उसे ध्यान से सुनो। हमारी चूहा-जाति पर आफत आने वाली है...। आदमी इसकी खुलेआम तैयारी कर रहा है...। मुश्किल यह है कि हम उसी के साथ रहते हैं...। लंबे समय से साथ-साथ रहते आ रहे हैं, आदत सी पड़ गयी है आदमी की...। पर हमने तो कभी उसके खिलाफ नहीं सोचा...और वह है कि हमारी नस्ल ही खत्म कर डालना चाहता है। खैर, तुम लोग नहीं समझोगे..., बस इतना समझ लो कि खूब सावधान रहना है और खाने-वाने के ज्यादा लालच में नहीं पड़ना है, क्या...? और तुम अपने लाइलों को भी ताकीद कर दो कि वे अपनी मटरगश्ती से जरा बाज आएँ।

चूहा थककर सांस लेने के लिए रुका, फिर बोला- मैं कुछ दिनों के लिए बाहर गांव जाऊंगा। चूहापति से मिलना होगा। उन्हें आने वाले खतरे से आगाह करूंगा, ताकि समय रहते कुछ किया जा सके।

अन्यथा..., चूहा गहरी उदासी से सांस भरकर बोला- अन्यथा कोई नहीं बचेगा... बहुत बुरा समय आ गया है...।

चूहे ने शिशु-चूहों से प्यार किया, युवा-चूहों के सिर थपथपाए, चुहिया की गर्दन पर थूथन रखकर चूमा और जल्दी से जल्दी लौट आने का वादा करके झोपड़ी से बाहर आ गया। पूरे परिवार ने बाहर आकर विदा दी।

चुहिया ने उदासी से कहा- अपना खयाल रखना... संभल कर जाना... और जल्दी लौटना। मैं राह देखूंगी...।

हां फौरन लौट आऊंगा... यदि पूरी चूहा-जाति के अस्तित्व का सवाल न होता, तो मैं जाता ही नहीं...। लेकिन कौम की रक्षा के लिए जाना जरूरी है..., वरना इतिहास मुझे माफी नहीं देगा। अच्छा अलविदा। ...जल्दी ही फिर मुलाकात होगी।...

चूहा अपने महानतम उद्देश्य के लिए चल पड़ा। उद्देश्य निर्धारित होते ही उसके अंदर आत्म-गरिमा की लहरें उठने लगीं। कुर्बानी का जज्बा पैदा हो गया और अपने महत्त्व से उसकी पहचान हुई।

चूहा कई दिनों की यात्रा करने के बाद चूहापति के पास पहुंचे, इसके पहले ही उसकी यात्रा

की खबरें वहां पहुंच गई थीं। चूहापति के बिल-प्रदेश में उसके स्वागत की तैयारियां हफ्ता भर पहले ही शुरू हो गयी थीं। बुजुर्ग-चूहों ने उसे सिंदबाद कहा और युवा-चूहों के लिए वह रोल-मॉडल बना। चुहियाओं के दिलों में उसे देखने के लिए खलबली मची। बिल-बिल उसकी चर्चा चली। चित्रकार चूहों ने उसके काल्पनिक चित्र बनाए और इधर-उधर टांग दिए। युवा चूहों ने नारे बनाए और किशोर चूहों ने गाना सीख लिया- हमें तुम पर नाज है, चूहों के सिर पर ताज है। चूहापति की चूहा-नगरी में अभिनंदन, ओ-वीर माता के नंदन। चूहा-चूहा भाई-भाई, पर्वत-पर्वत राई-राई, आदि आदि।

चूहापति की नगरी से एक फर्लांग पहले ही चूहों के एक दल ने चूहे का स्वागत किया। रोटी के टुकड़ों की मालाएं पहनायीं। यात्री चूहे को पीठ पर बैठाकर वे नाचे। चीं-चीं-चीं। पीने के लिए झरने का शुद्ध जल पेश किया। चीं-चीं-चीं। यात्री चूहा इस आत्मीय स्वागत से मुग्ध हुआ। वे सब यात्री चूहे को पीठ पर लाद कर, चूहानगरी तक लेकर आए।

नगरवासी चूहों की अपार भीड़ उसे देख पाने के लिए, घंटों पहले से नगर-द्वार पर जमी हुई थी। उसके प्रवेश के साथ ही जोश उमड़ पड़ा-

जब तक सूरज चांद रहेगा...!

चूहा तेरा नाम रहेगा...!

तू गणपति-वाहन, तू महान...!

याद करेगा तुझे जहान...!

युवा-कुआंरी चुहियाओं ने पुष्प-वर्षा की और स्वागत-गीत गाए। कमसिन चुहियाओं के दिलों को धक्का पहुंचा, क्योंकि चूहा प्रौढ़ आयु का था, फिर भी अपनी आसक्ति को वे घटा नहीं पायीं। प्रौढ़-चुहियाएं उसे देखकर लजा गयीं और उनके दिल धड़-धड़ कर उठे। थके हुए चूहे की आंखें मुंदी जा रही थीं। नर चूहों में आदर भावना हिलोरें ले रही थीं।

अंत में जब जुलूस चूहापति के विशाल बिल के सामने पहुंचा, तो चूहापति मय कुनबे के उसके स्वागत के लिए मौजूद थे। उन्हें देखते ही यात्री चूहे की आँखें डबडबा आयीं। उसे अपनी यात्रा सार्थक लगी। समस्या की गंभीरता और यात्रा की थकान ने चूहे को पस्त कर दिया था। पैर लहलुहान थे और गर्दन लटकने लगी थी। आंखें खुलना नहीं चाहती थीं। उसे तुरन्त ही अतिथि-शाला में विश्राम करने के लिए भेज दिया गया।

चूहापति और उनके सलाहकार चूहों में भारी कौतूहल था। यात्री चूहा थककर गहरी और लंबी नींद में गाफिल था और ये घड़ियां गिन रहे थे। मन में उथल-पुथल मची हुई थी कि ऐसी कौन सी बात है, जिसे बताने के लिए चूहे ने इतनी लंबी और जोखिम भरी यात्रा की।

चूहे की जब नींद टूटी और थकान की बोझिलता घटी, तो उसने चूहापति से भेंट करने लिए खबर भिजवाई। तुरन्त ही कुछ चूहे आए और आदरपूर्वक उसे चूहापति के पास लिवा ले गए।

आइए... आपका एक बार फिर यहां स्वागत है। चूहापति ने यात्री चूहे से कहा और थूथनों के स्पर्श से आत्मीयता भी प्रकट की। वे अंदर आकर बैठ गए।

चूहापति ने पूछा- तबियत तो ठीक है न...?

जी हां... अब ठीक है... क्षमा करें..., मैं कुछ ज्यादा ही सो गया।

इतनी लंबी यात्रा के बाद यह स्वाभाविक ही है...। अब आप जिस कारण से इतनी लंबी यात्रा

करके यहां तक आए हैं, उसके बारे में बताएं।

यात्री चूहे ने एक बार मंत्रणा-स्थल में उपस्थित सभी चूहों को देखा, फिर विनम्रता से बोला- आदरणीय चूहापति जी एवं माननीय विद्वान एवं अनुभव-सम्पन्न चूहा-गणो, आप सब मेरा आदर स्वीकार करें...।

इस संबोधन और विनम्रता के कारण वहां मौजूद सभी चूहे बहुत प्रभावित हुए। उसने आगे कहा- हम चूहों पर जल्दी ही भारी संकट आने वाला है...। मनुष्य ने हमें अपना दुश्मन घोषित कर दिया है। उसके वैज्ञानिक खोज-कार्यों में जुटे हुए हैं और हमारा समूल-नाश करने की योजना बना रहे हैं। हाल ही में मुंबई में, जहां से मैं आया हूं, उसने एक बड़ी संगोष्ठी करके अपनी योजनाओं का खुलासा किया है। उन्होंने कई प्रकार की दवाएं, छिड़कने वाले कृतक-नाशक और हमारी नस्ल तक को खत्म कर डालने वाली खोजें चला रखी हैं...। वे एक तरफ सांप, नेवला, बिल्ली, उल्लू वगैरह को अपना दोस्त घोषित कर रहे हैं और हम चूहों को अपना दुश्मन...। उनका कहना है कि हम चूहे उनका उगाया हुआ करोड़ों टन अनाज खा जाते हैं, जिससे उनकी आबादी को भोजन की कमी पड़ जाती है।

चूहे ने एक लंबी सांस ली और कहा- सभी का यह हक है कि वे अपनी और अपनी कौम की रक्षा करें...। इसी उद्देश्य से मैं आपके पास आया हूं...। आप ऐसा उपाय करें जिससे हमारी नस्ल बचायी जा सके...।

यात्री चूहे की बात सुनकर वहां सन्नाटा छा गया।

जरा देर बाद चूहापति ने कहा- एक ओर यह आदमी, हमें गणपति-वाहन कहकर सम्मान देता है और दूसरी तरफ हमें बरबाद करने के मसूबे भी बनाता है...। भाई यात्री चूहे! यह पूरा चूहा-समाज तुम्हारा अहसानमंद है, जो तुमने आने वाली विपत्ति को पहचाना और सूचना देने के लिए इतनी लंबी यात्रा करके यहां तक आए। तुम्हारा बहुत-बहुत धन्यवाद...।

फिर चूहापति ने अपने सलाहकारों से कहा- आप हमें सलाह दीजिए कि ऐसी विकट स्थिति से निपटने के लिए हमें क्या करना चाहिए...?

सलाहकार असमंजस और विमूढ़ता में पड़े हुए थे। छोटी-मोटी मुसीबतें तो रोज उन पर आती ही हैं और दुर्घटनाओं में चूहों की मौत भी वे झेलते रहते हैं, लेकिन पूरी चूहा-जाति के मिट जाने का यह संकट सिर पर आ खड़ा होगा, किसी ने कभी सोचा तक न था।

एक सलाहकार चूहे ने कहा- मुझे तो यही उपाय समझ में आ रहा है, कि हम इस देश को त्याग कर कहीं और चले जाएं।

चूहापति ने कहा- यह मुमकिन कैसे होगा? इतने बड़े देश में फैले हुए चूहा समाज को एकत्र करना और इतनी बड़ी तादाद में निर्वासन...। लाखों-करोड़ों चूहे यूं ही मर जाएंगे...। मनुष्यों को निर्वासन और पलायन की आदत है, पर हमें तो इसका कोई अनुभव ही नहीं है। और अगर जाएं भी, तो कहां जाएं?

क्यों पाकिस्तान जा सकते हैं...। वही चूहा बोला।

पाकिस्तान क्यों...? वहां तो सैनिक तानाशाही है...। एक चूहे ने आपत्ति की।

सेनाएं किसी की भी हो, वे हमेशा बुरी ही होती हैं...। सेनाएं होंगी तो युद्ध भी होगा...।

सैनिक-तानाशाह तो युद्ध ही चाहता है।

तो बंगलादेश चले जाते हैं...।

वहां तो उन्हीं के खाने के लाले पड़े हैं... वे इधर की जमीन दबाने के चक्कर में हैं...।

नेपाल भी जा सकते हैं...।

उस हत्यारे ज्ञानेन्द्र का देश...? अपने ही परिवार को भूजने वाले की छाया में हम अहिंसक चूहे कैसे रह सकेंगे?

यात्री चूहे ने हस्तक्षेप किया- हमें कहीं नहीं जाना चाहिए..., बल्कि यहीं रहकर आदमी का मुकाबला करना चाहिए...

तो फिर उपाय क्या है...?

इस प्रश्न पर थोड़ी देर वहां चुप्पी रही।

मेरे मन में एक विचार आया है...। एक युवा चूहे ने कहा।

हां बताइए...।

हमें भी चूहा-वैज्ञानिक तैयार करना चाहिए और उनसे ऐसी खोजें करने को कहना चाहिए, जिससे हम मनुष्य को मार डालें और सारा टंटा ही खत्म कर दें...।

क्या आदमियों जैसी बातें करते हो...? फिर हममें और आदमी में फर्क ही क्या रह जाएगा? हमें आत्म-रक्षा के लिए उपाय तो करना चाहिए, किंतु किसी प्रजाति को समाप्त करने की बात सोचना तक नहीं चाहिए। सबके रहने में ही अपना भी रहना है और दूसरे के न रहने पर हम भी न रहेंगे...। हम आदमी नहीं हो सकते और न ही अपना चूहा-धर्म ही त्याग सकते...। हमें अपने बचाव के लिए उपाय करने होंगे।

इसमें तो लंबा समय लगेगा...।

लगेगा, परंतु रक्षा का स्थायी उपाय हमारे हाथ आ जाएगा...।

पर तब तक हम मनुष्यों के हाथों मरते रहेंगे...।

मेरी सलाह न मानें तब भी मरते ही रहना है, तो उपाय की तलाश करने के लिए मेरी सलाह मान लेने में क्या हर्ज है...?

चुप्पी छा गयी।

यात्री चूहे ने तब कहा- कृपया उचित और दीर्घकालिक फायदों पर आधारित उपायों के लिए सोचिए...।

चूहापति गंभीरता में चले गए, फिर कहा- हमारे चूहा-समाज में अनेक ऐसे विद्वान और जानकार हैं, जो जरूर कोई रास्ता निकाल लेंगे...। हम उन्हें बुला लेते हैं और उनसे बात करते हैं...।

चूहापति से सभी सहमत हो गए। इसके अलावा और कोई चारा न था।

एक सम्मेलन की तैयारी होने लगी। यात्री-चूहे को अतिथि-सलाहकार बना दिया गया। अब यात्री-चूहे को महीना भर और रुकना था, जबकि वह अपने परिवार के प्रति चिंताग्रस्त था और जल्दी से जल्दी लौट जाना चाहता था। यात्री-चूहे ने अपनी समस्या चूहापति को बतायी थी, लेकिन उन्होंने यह कहकर उसे चुप करा दिया कि जिस विपत्ति को स्वयं उसने देखा सुना है और अनुभव किया है, उसका विवरण चूहा-सम्मेलन में उससे बेहतर और कौन देगा? प्रस्तुति जितनी उत्तम होगी, उसके निदान

भी उतने ही उत्तम होंगे। यात्री चूहा मन मारकर रह गया। वह भी जरूरी था, यह भी जरूरी था।

एक माह की अवधि बीत जाने पर वह तिथि भी आयी, जब चूहा-सम्मेलन आयोजित हुआ। भाग लेने के लिए चूहा-समाज के विद्वान, बुजुर्ग और चिंतक आए। यात्री चूहे ने ही समस्या के संबंध में विस्तारपूर्वक जानकारी दी। ऐसे विकराल संकट को जानकर सम्मेलन में भय छा गया। कितनी ही देर के लिए चूहे खामोशी में चले गए। चूहापति ने मौके की नजाकत को भांपकर, स्थिति सामान्य करने की गरज से कहा- माननीय बिरादरी-बंधुओ! चूहा-समाज के सामने इतिहास का सबसे बड़ा संकट आ खड़ा हुआ है, इससे पूरी प्रजाति के विनाश का खतरा पैदा हो गया है...। इतना तो कुस्तुनुनिया और कैंटन शहर में प्लेग फैल जाने से भी चूहों का विनाश न हुआ था और न ही मनुष्यों का...। प्लेग की कुल तीस महामारियों की जानकारी है..., इसमें भी कुल चालीस करोड़ चूहे और दस करोड़ आदमी ही मरे थे...। दुनिया की तुलना में ये आंकड़े कितने साधारण हैं? इतने तो युद्ध में मर जाते हैं...। भूकंप और ज्वालामुखी की चपेट में आ जाते हैं...। हमें हिम्मत से काम लेना है..., मनोबल बनाए रखना है और अपना वजूद बचा ले जाने का रास्ता भी निकाल लेना है...।

चूहों ने इस धैर्यपूर्ण-शैली के भाषण से अपने को सम्हाला। थूथनें हिलार्यीं और आँखें मटकार्यीं। तब सम्मेलन के अध्यक्ष ने मौके को लपकते हुए कहा- कृपया अपने-अपने सुझाव यहां पेश करें।

एक युवा चूहे ने अपने पश्चपादों पर पूरा शरीर खड़ा करते हुए कहा- मनुष्य ने अपने लिए बेहतर से बेहतर अस्पताल बनाए हैं...। जिंदा रहने के हजार उपाय किए हैं...। वह खुद तो अमर होना चाहता है और हमें खत्म कर डालना चाहता है...।

एक आवाज- हमें मारने के लिए गोलियां, जहर, स्रे और न जाने क्या-क्या तैयार किया गया है...?

दूसरी आवाज- मैंने मनुष्य के टीवी पर एक विज्ञापन देखा है, जिसमें ऐसी दवा का प्रचार है कि उसे चूहे खाएं घर में और मरें बाहर जाकर...। वे हमसे इतनी नफरत करते हैं कि न हमें जिंदा देख सकते हैं और न मुर्दा...। छिः छिः कैसे प्राणियों के साथ रहने को हम मजबूर हैं...?

चूहापति ने बहस में हस्तक्षेप करते हुए कहा- यद्यपि अत्यंत सार्थक बहस चल रही है, किंतु हम मनुष्यों की तरह मानसिक अय्याशी नहीं कर सकते...। सम्मेलन को उसके विषय पर केंद्रित रखिए कि 'हम यहीं, अपने मुल्क में ही जिंदा रहने का उपाय खोजेंगे।'

तब एक युवा चूहे ने शुरुआत की। उसके कान बड़े-बड़े थे और शरीर की लंबाई की तुलना में कहीं अधिक लम्बी पूंछ का मालिक था वह। अपनी चाल-ढाल से ही वह प्रतिभावान दिख रहा था। उसने चीं-चीं की मधुर ध्वनि से सबको प्रणाम किया। सामूहिक चीं-चीं से इसका प्रत्युत्तर हुआ। वह बोला- सभी प्रजाति के बंधु-बांधवों! मेरा जन्म एक विश्वविद्यालय के पुस्तकालय-कक्ष में हुआ। और नृतत्वशास्त्र-विभाग का व्याख्यान कक्ष ही मेरी क्रीडा-भूमि रहा है। मैंने वहां मनुष्य के संबंध में जो सुना-समझा उसी के आधार पर मैं अपनी बात कहूंगा। चूहे सतर्क होकर बैठ गए। कानों की संवेदन-शक्ति का पूर्णरूपेण उपयोग करने की उनकी तैयारी दिखायी देने लगी।

उस चूहे ने व्याख्यान देने वाली अदा से कहा- दोस्तों, हम चूहे और मनुष्य दोनों ही प्रकृति की देन हैं। जब हमारा स्रोत एक ही है, तो हम आपस में शत्रु तो हो ही नहीं सकते, हां परस्पर-अवलंबित हो सकते हैं। यदि हम इस विचार पर चल पड़े कि यहां, इस धरती पर जो भी है, वह दो हिस्सों में बंटा हुआ है- एक हिस्सा मित्रों में, और दूसरा हिस्सा शत्रुओं में...यानी कि कुछ

हमारे मित्र हैं और कुछ हमारे शत्रु, तो इसका मतलब निकलेगा कि कुदरत कुछ गलत कर रही है। वह दुश्मन और दोस्त की अलग-अलग फसल बो रही है...। मगर अटल-सत्य तो यह है कि कुदरत कभी कोई गलती नहीं करती। वह अपनी तरह से एक संचालन व्यवस्था का निर्धारण करती है। उसके तहत जितनी पवित्रता सृजन की होती है, उतनी ही ध्वंस की भी होती है। दोनों ही संचालन-प्रबंध के दो अनिवार्य पक्ष हैं...।

चूहे ने एक पल के लिए समूचे-चूहा समुदाय को निहारा फिर आगे कहा- माननीय यात्री-चूहा महोदय ने अभी मनुष्यों की संगोष्ठी में प्रस्तुत रिपोर्ट का विवरण दिया है। अब जरा उसी प्रसंग में मेरे आंकड़ों पर भी गौर कीजिए...। यह सही है कि हमारी आबादी भारत में मनुष्यों की तुलना में आठ गुना ज्यादा है, मगर हमारी उम्र मनुष्य की तुलना में तीस-चालीस गुना कम है। एक आदमी चौबीस घंटे में एक किलोग्राम आहार करता है और लगभग तीस ग्राम भोजन-सामग्री जूठन के रूप में बरबाद करता है। समारोहों और शादियों में तो वह इसका उल्टा करने लगता है... सौ-डेढ़ सौ ग्राम खाता है और पांच-छः सौ ग्राम भोजन बरबाद करता है। पर इसे छोड़ भी दें, तो हमारे देश की मनुष्य-आबादी हर साल 54.75 करोड़ टन आहार करती है। मनुष्य 60 से 80 वर्ष जीवित रहता है, तो यह आहार वजन में इतना ही गुना बढ़ जाएगा। अनाज को मुर्गों में बदल दें तो 5.47 अरब मुर्गे, 5.47 करोड़ बकरे और 1.82 करोड़ बैल वह खा जाता है...।

चूहा अपने आंकड़ों की प्रतिक्रिया देखने के लिए पल भर मौन रहा, फिर बोला- मित्रों, 16-17 साल की उम्र में ही आदमी प्रजनन-क्षमता प्राप्त कर लेता है और उसकी मादाएं नौ माह का गर्भ धारण करती हैं तथा चालीस-पचास वर्ष की उम्र तक प्रजनन करती रहती हैं...। प्रत्येक मादा 2 से 10 बच्चे तक उत्पन्न करती है और कभी-कभी यह संख्या 12 से 14 तक भी हो जाती है।

चूहे ने सांस लेकर कहा- इस मनुष्य प्रजाति ने मरने से बचने के लिए तरह-तरह की स्वास्थ्य-सुविधाएं हासिल कर ली हैं। वह प्राकृतिक-प्रकोप से बच जाने के उपाय विकसित कर चुका है। असल में वह प्रकृति के नियम के विपरीत अमर होने की तैयारी कर रहा है।

उसने थूथन पर जीभ फिरायी- हम तो कुदरत के खिलाफ सोचते तक नहीं...। अपना प्राकृतिक जीवन और भोजन हमने आज तक नहीं बदला। मनुष्य के साथ सह-संबंध प्रकृति-प्रदत्त है...। वह हमारा चुनाव नहीं है। अब इस पर भी वह हमें अपना शत्रु मानता है, तो यह उसके विवेक पर एक प्रश्न चिह्न ही है। संसार समन्वय से चलता है, वैमनस्य से नहीं। भाई-चारा ही दुनिया को बचा सकता है। इस बात को ध्यान में रखकर ही कोई फैसला लिया जाए। बस...यही मुझे कहना है... धन्यवाद।

चूहों ने अग्रपादों से ध्वनि पैदा की।

सम्मेलन अध्यक्ष ने कहा- अभी हमारे युवा चूहाभाई ने जो तुलनात्मक जानकारी दी, वह भविष्य में, रणनीति बनाने में हमारे बहुत काम आएगी।

संचालक ने दोपहर भोजन के लिए अवकाश की घोषणा कर दी।

सम्मेलन-कक्ष से जरा हटकर भोजन की व्यवस्था थी। तरुण चूहे-चूहियाएं इंतजाम अली बने हुए थे। शरीर पर कोमल रोमावलिओं के कारण आकर्षक लग रही चुहियाओं की मादक-देहों पर अतिथियों की नजरें जमी हुई थीं। उन्हें इसका अहसास था और इससे उनकी मादक अदाएं जरा और मारक हो गयी थीं। वे कनखियों से निहार लेतीं और निहाल हो जातीं। रोटियों-फलों के टुकड़े, पापड़ों

का चुरकन और विस्किट्स के कणों की डिशें जमी हुई थीं। कई तरह के खाद्य-पदार्थों का मिश्रण भी चूहा-चाट के नाम से सजा हुआ था। वे खाते रहे और टिप्पणियां करते रहे। जो चूहे उधर चुप बैठे हुए थे, इधर वाचाल हो गए थे। फुरसत होते ही चूहे सम्मेलन-स्थल के बगीचे की लॉन में अग्र तथा पश्चपादों को फैलाकर जा लेते थे। सिर, ग्रीवा, धड़ तथा पूंछ में बंटा उनका शरीर, हरित-पृष्ठभूमि में चित्ताकर्षक हो गया था।

भोजन पश्चात की कार्यवाही आरंभ करते हुए संचालक ने नए सुझावों के लिए चूहों की भागीदारी आमंत्रित की। बेंडीकोटा बंगालेंसिस जाति का प्रतिनिधित्व करने के लिए एक चूहा आया-मेरा विचार तो यह है कि हमें भी वैज्ञानिक खोजें करना चाहिए...। टिट फॉर टैट...। हम गोलियां बनाएं, तरल मनुष्य-नाशक बनाएं..., मनुष्य के सोते समय उस पर छिड़क दें और वह टें बोल जाए। उसे चूहा जाति का शत्रु घोषित किया जाए...। धन्यवाद।

मिलारडिया मेल्टाडा जाति की ओर से वक्ता चूहा बोला- मैं पूर्व वक्ता से सहमत हूं... हमें मूर्गियों, मछलियों, कबूतरों, झींगों, तीतरों, हारिलों, बकरों, बैलों वगैरह से भी अनुरोध करना चाहिए, कि वे मनुष्य को अपना शत्रु प्राणी घोषित कर दें। एक व्यापक एकता के लिए हमें आदमी को धान, गेहूं, दलहन, तिलहन, कटहल, आलू, भुट्टे, टमाटर, पालक, मैथी, नीबू, मिर्च का भी शत्रु घोषित करना होगा...। वह कपास, वृक्ष, फूलों, शहद, पत्तों, बांस, महुआ वगैरह का भी तो दुश्मन है। उसकी शत्रुता की सूची में अनंत चीजें आ सकती हैं, ऐसा क्या बचा है, जिसका उपभोग मनुष्य नहीं करता...? वह दुश्मन है, दुश्मन है... सारी धरती का दुश्मन है, उसे समूल खत्म करना ही होगा... धन्यवाद। तालियां। तालियां। तालियां।

मस मस्कूलस जाति की चुहिया बोली- मनुष्य अंधा होकर उपभोग के पीछे भाग रहा है...। दोहन और सिर्फ दोहन ही उसका लक्ष्य बन चुका है...। उसने न पहाड़ बचने दिए, न जंगल, न हरियाली रहने दी, न सुरम्यता...। सीमेंट और पत्थर के शहर खड़े कर के वह मौसम तक को चबा गया...। जलवायु भकोस गया...। उसे तो सारी धरती का दुश्मन घोषित करना चाहिए, ...थैंक्स। तालियां-दर-तालियां।

रेटस रेटस जाति का चूहा बोला- आदमी की लालसाओं और षड्यंत्रों का लंबा और काला इतिहास है...। उसने जितने आविष्कार किए, खोजें कीं, उनके निष्कर्ष उसने अपने पक्ष में निकाले। उसने लिख-लिखकर ऐसी किताबों के अंवार खड़े कर दिए, जिनमें धरती के हजारों प्राणियों को दुश्मन की तरह चित्रित किया गया है...। अब क्या बताएं उसने प्राणियों, पशुओं और पक्षियों पर अपने गुण लाद-लाद कर मुहावरे तक गढ़ डाले हैं... बगुला-भगत होना, आस्तीन का सांप होना, गीदड़ की मौत आती है तो शहर की ओर भागता है, कुत्ते की दुम टेढ़ी की टेढ़ी, उल्लू सीधा करना, कान पर जूं न रेंगना, गिरगिट की तरह रंग बदलना, कुत्ते की मौत मरना, कोल्हू का बैल, काला अक्षर भैंस बराबर, बछिया का ताऊ, एक मछली सारे तालाब को गंदा करती है... बंदर क्या जाने अदरक का स्वाद और तो और हम पर भी, खोदा पहाड़ निकली चुहिया...। हमें उसकी किताबों, पुस्तकालयों और रिपोर्टों को कुतर डालना चाहिए। ऐसी नकली किताबें गलत नजरिए को पेश करती हैं...। इनको समाप्त करना होगा...।

तालियां ही तालियां।



अगले वक्ता ने कहा- कृषि विश्वविद्यालयों में चूहों के खिलाफ किताबें लिखी जा रही हैं। आंकड़े तैयार किए जा रहे हैं...। चूहा विरोधी विभाग चल रहे हैं...। वहां चूहा विशेषज्ञ तैयार हो रहे हैं...। वे हमारे नाम पर लाखों रुपयों की पगार हड़प रहे हैं...। इस बदमाशी का पर्दाफाश होना चाहिए...।

अग्रपादों से पदतल ध्वनियां।

उसी ने आगे कहा- हमारी एक नस्ल प्लेग फैलाती थी, और मनुष्यों को सबक सिखाया करती थी...। इस दुष्ट प्राणी ने हम चूहों की उस नस्ल को ही मिटा दिया...। क्यों न हम भी उसकी नस्ल ही मिटा दें...?

चीं-चीं-चीं।

चिंच्चीं-चिंच्चीं...

संचालक ने आगे के भाषणों को रोक देने की कोशिश की, परंतु वे सफल नहीं हुए। डिस्कवरी चैनल और नेशनल ज्योग्राफिक चैनल को देखने के आदी एक चूहे ने छलांग लगाकर मंच पर कब्जा कर लिया और व्याख्यान-शैली में कहा- यह वही मनुष्य-जाति है, जिसने डोडो पक्षी को धरती से समाप्त कर दिया...। डोडो का कोई परभक्षी न था, इसलिए उसने अपने बचाव के कोई उपाय तक न सीखे थे...। वह उड़ना तक नहीं जानता था। उल्टे मनुष्य को भला-प्राणी समझकर ही वह फुदकता-फुदकता उसके करीब पहुंच जाया करता था। मनुष्य ने भारी चीजों से उसका माथा फोड़-फोड़ कर उसे खत्म ही कर दिया...।

चीं...चीं...

अफ्रीकी देशों में हाथी-दांत के लिए हाथियों का इतना शिकार किया गया, कि हाथियों ने अपनी आनुवांशिक आदत तक बदल डाली...। जानते हैं क्या किया उन्होंने...? उन्होंने अपने दांत उगाने ही बंद कर दिए...। यह है प्रतिरोध। कुदरती प्रतिरोध।

चीं-चीं...

इस निरंकुश, लोभी, स्वार्थी और दैत्य-विचारों वाले मनुष्य को धरती से मिटा देने का पुण्य हमें ही करना होगा। कृपया उसके तरीके जल्दी सोचिए... अब समय आ गया है कि हम अपनी रक्षा के लिए एकजुट हों...। बड़े उद्देश्य के लिए काम करें...। एक विराट मिशन के लिए काम करें...।

चीं-चीं- पदतलध्वनियां - चीं...चीं...

सभापति ने तुरंत हस्तक्षेप किया- जब हम महान उद्देश्यों के लिए समर्पित हो जाते हैं, तो सफलता मिलने में देर नहीं लगती...।

गहमागहमी से भरा चूहा सम्मेलन इस निष्कर्ष के साथ संपन्न हुआ कि छह माह की अवधि में वैज्ञानिक, विचारक और अनुभवी चूहे अपने-अपने तरीकों से उपाय खोजेंगे, अविष्कार करेंगे और दूसरे सम्मेलन में उनकी प्रस्तुति करेंगे।

अगले दिन यात्री चूहा लौट पड़ा। विदा देने चूहों की भीड़ आयी। सम्मेलन की चर्चाएं फैल गयीं थीं, जिससे चूहों में चिंता व्याप्त हो गयी थी। इसी कारण विदा के समय वह उत्साह न था, जो आगमन के समय दिखाई दिया था। तब भी चूहों की कृतज्ञता में कमी न आयी थी।

यात्री चूहे को अपना परिवार छोड़े लंबा अरसा हो गया था। दूसरी लंबी यात्रा संपन्न कर वह

अपने नगर पहुंच ही गया। अग्र और पश्चपाद और जख्मी हो गए थे तथा शरीर में थरथराहट भर गयी थी।

मुंबई वैसी नहीं थी, जैसी वह छोड़ गया था। इस बीच मुंबई में सीरियल-ब्लास्ट हो चुके थे। ऑफिस, बाजार और काम पर जाते या लौटते हुए लोग बड़ी संख्या में मारे जा चुके थे और उससे बड़ी संख्या में हस्पताल पहुंच गए थे। जब वह रेल की पटरी-पटरी रेंगता हुआ आ रहा था, तो उसने फटे और चिथड़े उड़े हुए रेल-डिब्बों का कबाड़ देखा। उसका चतुष्कोष्ठीय-हृदय धक्क से रह गया। इंद्रियां अधिक सक्रिय हो गयीं। ऐसा जला और ध्वस्त कबाड़ मनुष्य द्वारा किए गए अनिष्ट का ही अंजाम होता है। 'आमची मुंबई' और 'मी मुंबईकर' के नारे कबाड़ पैदा करते रहे हैं और इसी कबाड़ से वे सत्ता पैदा करने का जादू भी जानते हैं। सैकड़ों-हजारों अशोक कुमार असली दुश्मनों को पहचान पाने में कोताही करते रहे हैं। आई.सी.ए.आर, रिसर्च इंस्टीट्यूट और विश्वविद्यालयों की तमाम प्रयोगशालाएं असली दुश्मन के वायरसों के विरुद्ध कोई कारगर-ईजाद करने में असफल रही हैं। कोई शोध यह नहीं बता पा रहा, कि जो किताबें, नसीहतें और विचार प्रेम, शांति तथा भाईचारे की स्थापना के उद्देश्य से उद्भूत हुए थे, वही इन्हें ही नष्ट कर डालने, नेस्तनाबूद कर देने और जड़ से उखाड़ फेंकने के इरादों के काम क्यों आने लगे हैं...?

विचारों से कांपता चूहा अपनी चाल को भरसक बढ़ाकर, बांद्रा-कुर्ला कॉम्प्लेक्स के सामने स्थित उस झोपड़ी तक जल्द से जल्द पहुंच जाना चाहता था, जहां उसकी संगिनी अपने बच्चों और बच्चों के बच्चों के साथ रहती है। वे सब चूहे की आँखों में झूलने लगे। उनकी चीं-चीं की मिठास कानों में घुलने लगी।

बांद्रा-कुर्ला कॉम्प्लेक्स की आलीशान इमारत उतनी ही आलीशान थी। सड़कों पर दौड़ते-भागते वाहन वैसे ही तेज रफ्तार थे। बारिश की बौछारों से मुंबई हर साल की तरह भीग रही थी, मगर।

मगर वह असंख्य छिद्रों वाली झोपड़ी अपनी जगह पर न थी। उस जैसी झोपड़ियों वाली पूरी बस्ती गायब थी। उसका मलबा तक न बचा था। उसकी जगह सूना और उचाट मैदान इतनी लंबाई-चौड़ाई में पसर गया था, कि चूहे की आँख में समा नहीं पा रहा था। एक कोने में विशालकाय मशीनें जरूर दिखायी दीं। उनकी पूरी ऊंचाई मापने के लिए चूहे को पश्चपादों पर बैठना पड़ा। सदमा उस पर तारी हो गया और उसकी गर्दन जमीन से जा लगी।

सदमे को बरदाश्त करने लायक समय बीत जाने पर वह झोपड़ी की खाली जगह पर देर तक घूमता-सूँघता रहा। वहां मिट्टी में उसके परिवार की गंध, हलचल और चीं-चीं की ध्वनियां मौजूद थीं। पूरे मैदान में तलाश करने पर भी इस बारे में कोई सुराग, सूचना या ज्ञान उपलब्ध नहीं हुआ कि पूरी बस्ती का क्या हुआ? क्या वे मशीनें उसे लील गयीं?

सदमा थिर हुआ तो हाहाकार चल पड़ा था। प्राण निकल जाने को फड़फड़ा रहे थे। रुदन अंदर उमड़-घुमड़ रहा था और थकान तथा पीड़ा उसे तोड़े डाल रही थी।

अपने परिवार के बाद उसे उस मनुष्य-परिवार का ध्यान भी आया, जो झोपड़ी में रहता था। उनका क्या हुआ? बड़े अच्छे लोग थे। खाने-पीने की चीजों को तालों में रखने की प्रवृत्ति से मुक्त थे। सब कुछ खुला-खुला था। चूहा परिवार मजे में पल रहा था। बच्चे तो चूहा-शिशुओं को देखकर रोटी के टुकड़े उनकी तरफ उछाल देते थे। उनके बिस्तरों, कपड़ों, भोजन सब में चूहों का साझा था।

सुख और दुख दोनों ही साझे थे। जिस दिन चूल्हा न जलता, उस दिन चूहा-परिवार भी फांके करता और जिस दिन झोपड़ी में दारू-मच्छी उड़ती, चूहा-परिवार भी जश्न मनाता। एक मनचला चूहा तो नजरें बचाकर उस कटोरी में थूथन तक तर कर आता, जिसमें दारू रखी होती। फिर देर तक वह लोट-पोट होता रहता, दीवारों पर अकारण चढ़ता-उतरता और गजब की निडरता धारण कर रात में झोपड़पट्टी के स्वामी की मूछों से छेड़छाड़ भी कर आता।

बांद्रा-कुर्ला काम्प्लेक्स वालों से यह लोग कितने भिन्न थे। इनके मन में चूहों को मार डालने या घर से भगा देने का कभी विचार तक नहीं आया। दोस्ती चल रही थी। फिर...

घंटों वहीं पड़े रहने के बाद चूहा, धीमी-मरी चाल से चलकर बांद्रा-कुर्ला काम्प्लेक्स में पहुंच गया। ग्रेनाइट पत्थरों की परिचित चिकनाई और फिसलन ने उसे अपनी बाहों में ले लिया। जाने-पहचाने कमरों की दीवारों ने थोड़ा सुकून अता किया। रात के अँधेरे में सूने-सपाट पड़े भवन में अकेले घूम-घूमकर उसने अपने को इत्मीनान दिया। फिर वह एक थ्रिल को याद करता हुआ उस ऑडीटोरियम में प्रविष्ट हुआ, जहां से उसे यात्रा की प्रेरणा मिली थी...जिसने उसे परिवार का विछोह दिया... जो उसके जीवन में काल बनकर उतरा...

चूहे ने कुर्सियों की ठंडक को आत्मसात् किया, कार्पेट के खुरदरेपन में पुराने दिन खोजे। साउंड-सिस्टम के केबिनेट पर गर्दन रखकर भांपने की कोशिश की। मंच का मुआयना किया। वहां रखी मेजों पर चल-फिरकर यह जानने का प्रयत्न किया कि वे पेड़ों की होकर भी उनसे कितनी भिन्न हैं। निर्जीवता के आतंक में सनी हुई।

वह चेयरपर्सन की कुर्सी पर जाकर सांस लेने लगा। कुर्सी एक धीमी लय में आगे-पीछे झूलने लगी। लोहे में गति? वह चकित हुआ। कुर्सी से सुख की लहरें उठीं और उसे सराबोर करने लगीं। वह अंदर से गीला हुआ। गीलेपन से एक शक्ति पैदा हुई- तरंगें फूटीं। आत्मविश्वास अंगड़ाई लेने लगा।

...भक्क्

भक्क्... भक्क्... भक्क्... भक्क्...।

ऑडीटोरियम में प्राण आ गए। प्रकाश-व्यवस्था झमझमा उठी। वह डर गया।

दुबक कर टोह ली मगर वहां कोई मनुष्य न था। उसने अपने आप को बटोरा। कुर्सी से मेज पर आया। गुलदस्ता मादक-गंध देने लगा। चूहे ने उसे थूथन से सहलाया। उस नशे का अनुभव किया, जो चेयरपर्सन बनने पर चढ़ता है। नशे का लुत्फ उठाते हुए मेज के इस सिरे से उस सिरे तक की गरिमामय-यात्रा की।

यहीं माइक्रोफोन था।

वह उस पर कूदा- टुक्क...!

संगीतपूर्ण आवाज से पूरा ऑडीटोरियम बज उठा- टुक्क!

माइक्रोफोन की स्टीरियोफोनिक ध्वनि ने उसे फिर डरा दिया।

वापस मेज पर।

दुबके-दुबके उसने जायजा लिया और जान गया कि 'टुक्क' की ध्वनि का जनक वही है, कोई दूसरा नहीं। वह माइक्रोफोन पर दुबारा कूदा और 'टुक्क' की ध्वनि से उसने सारे ऑडीटोरियम को गुंजा दिया। थूथन रगड़कर उसने खिर्-खिर् की आवाज फैलायी। अग्रपादों से थप-थप पैदा की।

टुकू... खिर्-खिर्... थप्-थप्... टुकू... ।

खिर्-खिर्... ।

थप्-थप्... ।

टुकू-टुकू... ।

चूहा जब खेल में व्यस्त था, तब पीछे मंच पर एक डिजिटल-बैनर सरसराता हुआ आया और लग गया। श्रोता-आसनों पर चूहे अवतरित हुए। ऑडीटोरियम देखते ही देखते भर गया। फिर बॉलकनी भरी। दीवारों के पास की जगहें तक चूहों से पट गयीं। चूहे ही चूहे। भिन्न जातियों, स्वभाव और रंगों वाले चूहे। कैमरे आए। वीडियो आए। प्रकाश-कौंध से मंच झल-झल हुआ। पदतल ध्वनियां गूंजीं।

चूहे ने धीमे से कहा - हैलो!

पदतल ध्वनियां।

चूहा समाज के माननीय सदस्यों...! मैं यहां आपका स्वागत करता हूं... और आभार मानता हूं कि आप मुझे सुनने आए...। यह सही है कि मनुष्य, हमारी प्रजाति के अस्तित्व पर ही प्रश्न-चिह्न लगाने का मंसूबा बना रहा है। वे एकांगी सोच के शिकार हो गए हैं। जिस दिशा में चल पड़ते हैं, तो फिर और कहीं देखते ही नहीं...। अब वह हम चूहों को मिटाने चल पड़ा है...। उधर चूहों ने भी मनुष्य को समाप्त कर देने का निर्णय ले लिया है...।

पगतलध्वनियां...

दोस्तों, ...यह तालियां बजाने लायक निर्णय नहीं है...।

ऑडीटोरियम सन्न रह गया।

चूहे ने श्रोताओं को निहारने के लिए सिर इधर से उधर तक घुमाया- मनुष्यों द्वारा चूहों को मारने का फैसला जितना बुरा है... हमारा फैसला भी उतना ही बुरा है...।

सन्नाटा।

जो उस छोर से गलत है..., वही इस छोर से जायज कैसे हो सकता है?

चुप्पी!

दोनों एक-दूसरे को शत्रु घोषित कर, एक-दूसरे को मिटा देंगे, तो इस संसार का क्या होगा? ... धरती कैसे चलेगी...? इसे कोई एक नहीं चला रहा है...। यह सबसे, सबके लिए चल रही है। प्रकृति ने हमें और उन्हें एक साथ, एक जगह पर पैदा किया है...। एक के हाथों दूसरे के विनाश के लिए तो बिल्कुल भी हमें पैदा नहीं किया गया होगा..., निश्चित ही हम कुदरत की जरूरत होंगे। यदि हम कुदरत की जरूरत हैं, तो उसे ही बरबाद करने पर आमादा क्यों हैं? ...क्यों?

ऑडीटोरियम गूंजा- क्यों...? क्यों...?

स्टीरियोफोनिक सवाल- क्यों...? क्यों...?

हमें विचार करना होगा, कुछ नए सवालों पर...। यह नए सवालों पर विचार करने का समय है..., जैसे कि हमें वैज्ञानिकों की ज्यादा जरूरत है या प्रकृतिवादियों की...?

सन्नाटा।

सह-संबंधों की वास्तविकता को स्वीकार कर जीने और जीते रहने देने की आवश्यकता है या संबंध-विच्छेद कर एकल प्रजाति हो जाने की...?

सन्नाटा। सन्नाटा।

कुदरत से कुछ सीखने की जरूरत है या कुदरत को सबक सिखाने की?

सन्नाटा। सन्नाटा। सन्नाटा।

नैसर्गिक जीवन जीने की या निसर्ग को अपनी मर्जी से बदल डालने की...?

सन्नाटा।

चूहा चुप हो गया।

उधर तालियों की हिम्मत न पड़ी।

वे सब धार्मिक-श्रोताओं की तरह चुपचाप सुनते रहे।

दोनों ओर के विद्वान..., दोनों तरफ के वैज्ञानिक..., दोनों तरफ के फायदा-वादी..., जब एक-दूसरे को खत्म करने के विचारों, खोजों और मनोवृत्तियों में डूब गए हैं..., तब हम, जो कि विद्वान नहीं हैं...। हम, जो वैज्ञानिक भी नहीं हैं...और हम, जो फायदा-वादी मनोवृत्ति वाले तो हरगिज नहीं हैं..., आइए चलें...। यहां से चलें... दोनों तरफ वालों को नकारने के लिए यहां से निकलें...।

चलो कि कुदरत की अंतरात्मा को सुनने के लिए चलें...।

उसे समझने के लिए चलें... और सबके साथ, सबके जीने की राह पर चलें...।

सन्नाटा।

चूहा, श्रोताओं को आग्रहपूर्वक देखता रहा। वे हलचल-विहीन थे।

चूहा माइक्रोफोन से मेज पर कूदा- धप्पू।

मेज से कुर्सी पर- टिप्पू।

कुर्सी से रेंगकर वह मंच पर आया। वहां से देखा।

सब निस्पंद।

मंच से वह कार्पेट पर चला।

हवा तक थम गयी थी।

‘निर्गम-द्वार’ की ओर वह सधे हुए पदों से चला। चलता गया। यहां तक कि ग्रेनाइट वाले बरामदे में आ गया। पर उसके पीछे कोई पदचाप पैदा नहीं हुई।

‘बांद्रा-कुर्ला काम्प्लेक्स’ की गगनचुंबी इमारत के सामने रात का सन्नाटा और एक अकेला चूहा।

झोपड़-पट्टी लापता।

चूहे ने एक बार मुड़कर देख लेना चाहा। अरे यह क्या...? उसके पीछे असंख्य चूहों की असंख्य पंक्तियां खड़ी थीं। खड़ी थीं और उसके इशारे की प्रतीक्षा कर रही थीं। सम्मोहित-सी

जैसे : वह कोई ‘पाइपर-मेन’ हो।



# सैंडी और सेंमल का वृक्ष

## अमरीक सिंह दीप

मैं उसके न्याय पर हैरान हूं। मैं इस सृष्टि की पूरी संरचना पर हैरान हूं। (कथा लेखक को जया जादवानी के 09/04/2001 को लिखे पत्र का अंश)

बात उन दिनों या कहूं उस महीने की है जब मेरा पूरा वजूद पतझड़ का त्रास झेल रहे एक उदास वृक्ष सरीखा होकर रहा गया था। मेरे वृक्ष-वजूद से निरन्तर पीले पत्तों का गिरना जारी था और एक दिन मेरा पूरा वृक्ष-वजूद नंगी शाखों का झुरमुट भर हो कर रह गया था। धूल भरी तेज हवाएं थीं, सड़कों और फुटपाथों के किनारे सुलगते हुए पीले पत्तों के ढेरों से उठता धुंआ था और वातावरण में किसी पीले को पीनधारी वानप्रस्थी का सा वीतरागीपन था। ऐसे वातावरण में मेरे नंगी शाखों के झुरमुट में बदल गए वजूद की शीर्ष शाख पर एक विशाल डैनों वाला गिद्ध आ बैठा था। इस गिद्ध को अपने वजूद से उड़ाने की जितनी भी कोशिश मैं करता उतना ही यह गिद्ध अपने विशाल डैनों और मुड़ी हुई नुकीली पीली चोंच से मुझ पर हमला कर देता था। और मुझे आहत-पराजित कर पुनः शीर्ष शाख पर जा बैठता था।

हां, मार्च का ही महीना था वह। पेड़ों से पत्तों के टूट-टूट कर गिरने का महीना। टूटे हुए पत्तों की कराहों का महीना। पेड़ों की नंगी शाखों के वैधव्य का महीना। वृक्षों के लुटे-पिटे आदमी की तरह नंगे-बुच्चे हो जाने का महीना। सन दो हजार एक अर्थात् इक्कीसवीं सदी को प्रारंभ हुए अभी एक ही वर्ष बीता था। उन्हीं दिनों के है डायरी के ये पृष्ठ। और ये पृष्ठ जिस इनसान के जीवन के अंतिम दिनों की गाथा है, वह सार्जेंट एच.एस. सन्धु अर्थात् हरबन्स सिंह सन्धु, जिसे हम सब प्यार से सैंडी कहकर बुलाते थे, उन दिनों कानपुर एयरफोर्स स्टेशन पर तैनात था।

सैंडी मेरा दामाद था। मेरी बीच वाली बेटी मनदीप अर्थात् मुक्ता का पति। पन्द्रह वर्ष के वैवाहिक जीवन में उसकी चार बार अलग-अलग एयरफोर्स स्टेशनों पर पोस्टिंग हो चुकी थी। डायरी में अंकित दिनों के दौरान वह अपने होम टाउन अर्थात् कानपुर एयरफोर्स स्टेशन पर तैनात था। दो बच्चे थे दोनों के। दस वर्ष का बेटा बलदीप और आठ वर्षीय बेटी नेहा। सरकारी नौकरी के कारण दोनों का दांपत्य बेहद सुख और सुकून से भरा था।

हालांकि सैंडी मेरा दामाद था पर वह मेरा दामाद कम दोस्त ज्यादा था। दोस्त भी ऐसा कि हम प्याला-हम निवाला। सप्ताहांत हर शनिवार या तो वह लाजपत नगर सपरिवार हमारे घर आ जाता

था या मैं सपत्नीक बेटी के घर लाल बंगला पहुंच जाता था। लाल बंगला जाने पर सैंडी अकसर मुझे अपने स्कूटर पर बैठा कर अपनी एयरफोर्स स्टेशन वाली शराब वाली मेस में ले जाया करता था। वहां गर्व से सबसे मेरा परिचय करवाता था। उन दिनों उस मेस में ढाई-तीन तीन रुपये में रम का एक पैग और तीन-साढ़े तीन रुपये में व्हिस्की का पैग मिल जाया करता था। हम दोनों वहां बैठकर चार-चार, पांच-पांच पैग शराब पी जाया करते थे। शराब की आंच से ही पिघल-पिघल कर हमारे वजूद एक दूसरे में घुलमिल गए थे। हमारे सुख-दुःख, खुशी-गम सब सांझे हो गए थे।

सन दो हजार एक के फरवरी महीने का अंतिम दिन था वह। सैंडी उस रात अपने मोहल्ले के एक विवाह के रिसेप्शन से खा पीकर घर लौटा था। अचानक रात के बारह-एक बजे उसके सिर में भयंकर दर्द उठा था। जब सिरदर्द की गोलियों से कोई फायदा नहीं हुआ था और वह रेत पर पड़ी मछली की तरह छटपटाने लगा था तो तत्काल उसे लाल बंगला के एक नर्सिंग होम ले जाया गया था। नर्सिंग होम वालों ने हाथ खड़े कर दिए थे उसे सेवन एयरफोर्स हॉस्पिटल ले जाने को कहा था।

इस डायरी की शुरुआत सैंडी को सेवन एयरफोर्स हॉस्पिटल में दाखिल कर दिए जाने के बाद होती है।....

#### **छः मार्च 2001**

उदासी का परिंदा तेजी से गोता लगाकर भीतर की जल सतह पर उतरता है। झील मन कांप उठता है। मन सतह पर देर तक वृत्त बनते और फैलते चले जाते हैं। आज छठवां दिन है सैंडी को कोमा में गए। आई.सी.यू. वार्ड के दोहरे कांच के दरवाजों के उस पार दायीं ओर के बेड पर अचेत पड़े सैंडी को देखकर बस एक ही इच्छा होती है.... जैसे भी हो कुछ देर के लिए ईश्वर को पदच्युत कर उसके आसन पर काबिज हो जाऊं मैं और तत्काल अपनी ईश्वरीय शक्ति से सैंडी को भल चंगा कर दूं। पर...

सैंडी के बेड के दोनों ओर मेडीकल स्टैंड पर ग्लूकोज की बोतलें उल्टी लटकी हैं। आक्सीजन मास्क, हार्ट मानिट्रिंग मशीन, वेन्टीलेटर मशीन, मल्लस मशीन और भी न जाने क्या-क्या उपकरण लगे हैं। मालूम नहीं क्या होने वाला है? डाक्टर आशा ही एक किरण तक नहीं थमा रहे। हालांकि स्कॅवेंडन लीडर अनिल कुमार ने अपनी संपूर्ण योग्यता और निपुणता सैंडी के उपचार में झोंक रखी है। तीन दिन पहले कमाण्ड हॉस्पिटल लखनऊ से वहां के दक्ष न्यूरोलाजिस्ट को कानपुर बुलवा कर उसने पूरा केस स्टडी करवाया था। और उसके कहने पर सारे चेकअप दोबारा करवाए थे। न्यूरोलाजिस्ट ने मुझे और बेटी को बुलवा पूरी स्थिति से अवगत कराया था। इस केस में मरीज के बचने की संभावना मात्र तैंतीस प्रतिशत है। मरीज अगर बच भी जाए तो जीवन भर के लिए अपंग हो जाता है। हमने निराशा वाले 67 प्रतिशत प्रतिशत को छोड़कर आशा वाले 33 प्रतिशत को अपने लिए चुना था। सैंडी बस किसी तरह बच भर जाए। उसका अपंग वजूद भी सहर्ष स्वीकार है हमें। इसी के साथ मैंने यह भी सोचा था कि प्रकृति को मैं टूटकर प्यार करता हूं। प्रकृति किसी भी सूरत में मेरा अहित नहीं होने देगी। और इसी आस्था की बदौलत मेरे भीतर से एक कविता बह निकली थी- अन्ततः जीतेगा जीवन/ क्योंकि पृथ्वी पर जीवन ही शाश्वत है/ प्रत्यक्ष है/जीवन का यह स्पंदन ही है/ जो हवा बनकर डोल रहा है वायुमंडल में/ जल बनकर हरहरा रहा है/नदियों, झीलों, झरनों में/सूर्य बनकर दमक रहा है/आकाश के उज्ज्वल भाल पर/... मौत का मुंह कितना भी विशाल हो/ मृत्यु सुरसा

की तरह फैला ले जितना भी अपना मुंह/ जीवन हनुमान की तरह लघुरूप धारण कर/ निकल आएगा बाहर/... माना कि मृत्यु के पास है/ काल-ब्रह्मास्त्र/ पर जीवन के पास भी है/ आशा की संजीवनी बूटी/ इस संजीवनी बूटी के बल पर/ कोमा में होने के बावजूद/ लक्ष्मण की तरह मूर्छा टूटेगी सैंडी की/ और वह आंखें मलते हुए उठ बैठेगा।

### 9 मार्च 2001

इन दिनों शाम जब ढलती है तो यूं लगता है जैसे दिन की मंद पड़ती रोशनी में अंधेरा नहीं सीसा घुल रहा है। सांस लेते वक्त यह सीसा फेफड़ों में भरने लगता है। सांस लेना कठिन हो जाता है। आज नौ दिन हो गए सैंडी को आई.सी.यू. की कांच की दीवारों के उस पार कोमा में डूबे हुए। वायरस के कारण सैंडी के दिमाग में सूजन आ गई है। मस्तिष्क के वे सेल जो फेफड़ों को सांस लेने का आदेश देते हैं, निष्क्रिय हो गए हैं। वेंटीलेटर उपकरण लगाकर कत्रिम रूप से सांसों के सिलसिले को जारी रखा जा रहा है। हॉस्पिटल के आक्सीजन-सिलेंडरों का स्टॉक समाप्त हो गया है। बाहर से आक्सीजन-सिलेंडर मंगवाए जा रहे हैं। कमांड हॉस्पिटल के न्यूरोसर्जन द्वारा रिक्मैंड सत्तर हजार रुपये के इंजेक्शन की लोकल परचेजिंग कर उसे सैंडी को लगाया जा चुका है। बेहिसाब दवाईयां, इंजेक्शन, ग्लूकोज की बोतलें खर्च हो चुकी हैं। इतनी सारी मशक्कतों के बाद भी सैंडी कोमामुक्त नहीं हो पा रहा है। मौत के भय से बेटी मुक्ता का चेहरा जर्द पड़ता जा रहा है। भय की स्याह परछाइयों ने हमारे पूरे परिवार को अपने चुंगल में दबोच रखा है। मुझे छोड़कर सबने धर्म और ईश्वर का सहारा ले रखा है। कोई सुखमनी साहिब का पाठ कर रहा है, कोई दुख भंजनी साहिब का तो कोई पूरी पांच वाणियों का। मुझे बस अपनी कलम, अपने साहित्य का ही संबल है। बावजूद इसके मौत के खौफ से मैं भी मुक्त नहीं हो पा रहा। मौत का इतने करीब आ जाना कि उसके लिजलिजे चेहरे ओर बदबूदार सांसों को अपने चेहरे पर झुका महसूस करना रूह को कंपकंपाए डाल रहा है। चाहता हूं परे ढेल दूं इस बदबूदार चेहरे को। पर हाथों को लकवा सा मार गया है। किसी ने शरीर की पूरी ताकत निचोड़ डाली है। चीखना चाहता हूं, आर्तनाद करना चाहता हूं पर कंठनली में जैसे किसी ने सीमेंट भर दिया हो। बस हत्वाक सा मौत को सैंडी की जिंदगी से जिनाकारी करते हुए देख रहा हूं। चाहता हूं, जैसे फिल्मों में हीरो कांच की दीवार तोड़कर बलात्कारी पर टूट पड़ता है वैसे ही टूट पड़ूं मौत पर और मारकर कचूर निकाल डालूं हरामजादी का। पर कहां से लाऊं ऐसी ताकत?

हालांकि स्कैंडेन लीडर डाक्टर अनिल कुमार और विंग कमांडर प्रदीप कुमार ने अपना संपूर्ण डॉक्टरी अनुभव और ज्ञान सैंडी के उपचार में झोंक रखा है। स्कैंडेन लीडर अनिल कुमार ने कंप्यूटर के द्वारा देश के समस्त श्रेष्ठ न्यूरोलाजिस्टों से संपर्क बना रखा है और उनकी दी हर अच्छी सलाह को सैंडी के उपचार में प्रयुक्त कर रहा है। इसी के साथ वह अपने हॉस्पिटल के डॉक्टरों के साथ बार-बार मीटिंग कर रहा है और कुछ भी नया सूझने पर तत्काल उसे कार्यान्वित कर रहा है। आज उसने रिजेन्सी हॉस्पिटल से ब्लड गैस एनालाइसिस टेस्ट करवाने को कहा है। मेरा युवा बेटा प्रभ्रप्रीत और सैंडी का भतीजा विक्की बर्फ की थैली में सैंडी के खून से भरी सिरिंज लेकर मोटरसाइकिल से रिजेन्सी हॉस्पिटल गए हैं। डॉक्टर अनिल कुमार की चश्में के फ्रेम के पीछे झांकती चमकती आंखें और उसके गन्दुमी चेहरे पर स्थाई रूप से स्थापित रहने वाली दृढ़ता मन में हौसला सा पैदा करती



है पर डॉक्टर का दो टूकपन इस हौसले में सेंध लगा देता है। डॉक्टर अनिल कुमार ने अभी तक कोई आश्वासन नहीं दिया। उसका कहना है कि एक निर्धारित समय के मियाद फिल्मों में दिखाई जाती है, हकीकत में ऐसा कुछ नहीं होता। कोई भी डॉक्टर गंभीर बीमारी में ऐसा आश्वासन नहीं देता कि चौबीस या अड़तालीस घंटे अगर गुजर गए तो खतरा टल जाएगा। फिर भी नौ दिन कम तो नहीं होते। नौ गुणे चौबीस यानी कि दौ सौ सोलह घंटे। तीन दिन से सैंडी को फिट नहीं आ रहे। लगता है वायरस का आक्रमण अब थम गया है। पराजित होने लगा है वायरस। वायरस की फौज अब जल्दी ही मैदान छोड़ जाएगी पर जब तक सैंडी को होश नहीं आ जाता, जानता हूं, मन कहीं टिकेगा नहीं।

### दस मार्च 2001

लगता है भीतर कुछ नहीं रह गया। भीतर दुःख, दुःख और दुःख ठसाठस भर गया है। आंच पर खौलने के लिए रखे अदहन की तरह संवेदना की हल्की सी आंच पाते ही आँखों से दुःख बहने लगता है। हक्का-बक्का हूं, यह सब क्या है? अगर ईश्वर नाम की कोई सर्वव्यापी सत्ता है तो क्या वह अच्छे इंसानों को ही दुःख देने के लिए बनी है? हमारे मकान के फर्स्ट फ्लोर के किरायेदार हैं। झूटे, फरेबी और मक्कार। नंबर वन के बेईमान। ईश्वर उन्हें क्यों नहीं कोई दुःख देता? क्या इसलिए कि किरायेदार की पत्नी रोज सुबह मंदिर जाती है? पूजा-अर्चना करती है, भगवान के सामने घंटी टुनटुनाती है? तो क्या ईश्वर घूसखोर है? शायद हां, तभी तो वह भव्य पूजास्थलों में रहता है, शानदार मंहगे रेशमी वस्त्र और जेवर पहनता है। मेवा-मिष्ठान का भोग लगाता है। इसीलिए वह अमीरों को और अमीर और गरीबों को और गरीब करता जा रहा है। गरीबों से उसे कोई हमदर्दी नहीं है। मूर्ख है गरीब जो उसे अपना पालनहार समझते हैं।

मार्चुरी की ओर जाने वाले रास्ते के उस ओर खड़ी दीवार पर धूप सूखने के लिए डाली गई सफेद चादरों की तरह लटकी हुई है। मार्चुरी के पीछे मोटे-मोटे उन्नाबी रंग के फूलों से लदा सेंमल का विशाल वृक्ष जैसे कोई रक्त पिशाच उगल रहा है। हवा स्तब्ध। चिड़ियों की चहचहाहट में सहमापन है। लग ही नहीं रहा कि आज होली है। दोपहर बाद तीन महीने से कोमा में चल रही बूढ़ी मां का बेटा रंगों से चित्तकबरा बना मोटरसाइकिल से अपने पिता के लिए होली के पकवान लाया तब कहीं पता चला कि आज होली है।

### ग्यारह मार्च 2001

सुबह के सवा नौ बजे हैं। धूप का स्वाद मिर्च जैसा तीखा और तीता है। धूप के मिर्चिले स्वाद के कारण हवा सिसकारियां सी भरती महसूस होती है। सेवन एयर फोर्स हॉस्पिटल के आई.सी.यू. वार्ड के पिछवाड़े सड़क पर खड़े सैंडी के स्कूटर पर बैठा हूं। वार्ड के पिछवाड़े शीशम, आम, जामुन, नीम और सेंमल के वृक्षों का घना झुरमुट है। जिस पर अजीब सी पतझरी उदासी तारी है। हवा जब चलती है तो यह उदासी भयभीत हो कांपने लगती है। मुझे अच्छी तरह से याद है, ऐसे ही मनहूस पतझरी मौसम में सैंडी की मां भी चल बसी थी। उसकी सिद्धनाथ मंदिर की ओर जा रही शवयात्रा के समय जे.के. कॉलोनी वाली सड़क के किनारे खड़े सेंमल के दानव कद वृक्ष ऐसे ही मांस के लोथड़ों से फूल उगल रहे थे। सोचता हूं, क्या वक्त का इंसान की जिंदगी से कोई गहरा संबंध है? आकाश के ग्रह-नक्षत्रों का इंसान की जिंदगी पर अच्छा-बुरा प्रभाव पड़ता है? क्या वक्त ही भाग्य है?

आई.सी.यू. वार्ड के सामने आपरेशन थिएटर है। बगल में एक्सरे विभाग। वार्ड के ठीक सामने मार्चुरी की बिल्डिंग की ओर जाने वाली सड़क है। सड़क के किनारे संकेतपट लगा है। जिस पर अंग्रेजी भाषा में मार्चुरी और हिंदी में मुर्दाघर लिखा हुआ है। आई.सी.यू. वार्ड की ओर आते हुए कोशिश करता हूँ कि यह संकेतपट आँखों के सामने न पड़े। दहशत सी महसूस होती है। मृत्यु से शुरू से ही सख्त घृणा रही है मुझे। हालाँकि उसकी शाश्वतता से अनभिज्ञ नहीं हूँ मैं। बावजूद इसके कबीर की 'पानी केरा बुलबुला, अस मानस की जात' वाली आध्यात्मिक वीतरागता नहीं है मुझमें। लेखक होने के कारण हमेशा सकारात्मक सोच के पीछे मौत जासूस की तरह लगी हुई है। हरामिन हर जगह मेरा पीछा कर रही है। आठ मार्च को बेटे के साथ स्कूटर पर बैठ कर घर कपड़े बदलने गया था। रास्ते में हीर पैलेस टाकीज में यह 'मृत्यु शिखर' फिल्म के रूप में टाकीज पर लगे होर्डिंग पर खड़ी खीसे निपोर रही थी। स्कूटर जब स्वरूप नगर पहुंची थी तो यह सुअर के रूप स्कूटर के सामने आ गई थी और इसने मुझे और बेटे को सड़क पर पटक दिया था। बेटे को ज्यादा चोट नहीं आई थी पर मेरी कोहनियां और घुटने छिल गए थे। घर पहुंचने पर बेटे ने टी.वी. खोल दिया था। कोई फिल्म चल रही थी, जिसमें कादर खां तकिए से अपने मालिक का गला गोंट रहा था। चीख कर बेटे को चैनल बदल देने को कहा था। बदले हुए चैनल 'अनुराग' फिल्म में नतून के बेटे के अंतिम सांसों लेने का दृश्य चल रहा था। मैंने फिर चैनल बदलवा दिया था। यह मृत्यु आजकल क्यों यमदूत की तरह प्रकट हो जाती है हर जगह? क्या यह जानती नहीं है कि लेखक जीवन का सबसे बड़ा अधिवक्ता है? वह इन्सान के बेहतर जीवन के लिए सतत संघर्षरत रहता है। मृत्यु से उसका कोई सरोकार नहीं है।

लगता है लेखक और मृत्यु के मध्य द्वंद्व की घड़ी है। फिलवक्त तो मृत्यु का ही पलड़ा भारी है। मेरे लेखक को चित्त कर देने के लिए यह हर दांव खेल रही है। समझ नहीं आ रहा कौन सा दांव लगाकर इसे चित्त किया जाए।

### बारह मार्च 2001

ब्याहता बेटी ब्याह के बाद पहली बार मां-बाप के घर आ रही है। घर के अंग-अंग को थिरकना चाहिए था। घर के द्वार को खुद को मंगलकलश और बंदनवार से सजाना चाहिए था। मंगल गीत गाने चाहिए थे। घर को खुशी से झूमना-नाचना चाहिए था।

पत्नी और अविवाहित बेटा हॉस्पिटल में है। घर में मेरे सिवा और कोई नहीं है। मुंह अँधेरे घर के मुंह पर ताला जड़कर स्टेशन के लिए रवाना हो जाता हूँ। सुबह ठीक पांच बजे पांच मिनट पर ऊंचाहार एक्सप्रेस प्लेटफार्म पर आ लगी। श्री व्हीलर से बेटी और उसके श्वसुर को घर ले आया। नीचे ग्राउंड फ्लोर पर रहने वाली छोटी भाभी ने उन दोनों को नाश्ता कराया। ऊपर उदासी में डूबा घर मन मसोसकर रह गया।

बेटी हरप्रीत और उसका श्वसुर सैंडी के गंभीर रूप से बीमार होने की खबर पाकर उसे देखने आए हैं। आज होली नहान है, बावजूद इसके उन्हें सेवन एयर फोर्स हॉस्पिटल लेकर जाना है। कानपुर में होली नहान के दिन दोपहर एक बजे तक प्रचंड रूप से रंग चलता है। दिन के ग्यारह बजे छोटे भाई देविंदर की कार से निकले थे हम। हम यानी कि हरप्रीत, उसका श्वसुर, मैं, छोटे भाई की दस वर्षीय बेटी पलक और कार का ड्राइवर। मुझे सबसे महफूज रास्ता बरास्ता रावतपुर से कंपनी बाग

और कंपनी बाग से वी.आई.पी. रोग वाला लगा था। पूरे एहतियात के बाद भी चंद्रशेखर कृषि विश्वविद्यालय की सड़क के खतरनाक मोड़ पर कार को होली के हुड़दंगियों ने घेर लिया था। हमने कार के सारे शीशे चढ़ा लिए थे। हुड़दंगी लड़के शीशे खोलने के लिए हल मचाने लगे थे। मैंने बंद कार के भीतर से हाथ जोड़ दिए थे- 'हमारा दामाद मिलेट्री हॉस्पिटल में मौत से जूझ रहा है। हमें जाने दीजिए।' मेरी आवाज कार में ही घुटकर रह गई थी। कुछ लड़कों ने कार के शीशों पर पान मसाला थूक दिया था। एक लड़का बड़ा सा पत्थर उठाकर कार का अगला शीशा तोड़ने के लिए लपका था। मेरे जुड़े हुए हाथ और आंसू शायद किसी दर्दमंद लड़के ने देख लिए थे। उसने हुड़दंगियों को एक ओर हटाकर हमें जाने के लिए रास्ता दे दिया था।

### तेरह मार्च 2001

आज मुक्ता ने बड़ी बेटी संगीता के किदवई नगर वाले गुरुजी के कहने पर हॉस्पिटल में बड़ी तादाद में मौजूद बंदरों को पूड़ी-सब्जी खिलाई। साथ ही सैंडी के सिर के ऊपर से दर्जन भर केले-न्यौछावर कर वे भी उन्हें दिए। गुरुजी ने कहा है कि वे इस रविवार की रात सैंडी के लिए महामृत्युंजय का जाप भी करेंगे। मुक्ता ने कोई ओझा, सयाना, पीर-फकीर, पेंगंबर नहीं छोड़ा। जिस किसी ने जिस भी सयाने का पता दिया उसी के पास दौड़ी चली गई। जिसने जो टोटका बताया उसी को बड़ी निष्ठा और मनोयोग से किया। आई.सी.यू. वार्ड के पश्चिमी छोर पर हॉस्पिटल के कर्मचारियों द्वारा स्थापित हनुमान की सिंदूरपुती प्रस्तर की मूर्ति के सम्मुख एक सौ एक बार उसने हनुमान चालीसा का जाप किया। उसने और मेरी पत्नी ने सुखमनी साहिब और दुख-भंजनी साहिब के विजटर रूम में फर्श पर पालथी मरकर न जाने कितने पाठ कर डाले। सैंडी के रोगमुक्त हो जाने के लिए हर दर, हर चौखट पर नाक रगड़ रही है वह। हालांकि मुझे यह सब फूटी आँख नहीं भाता। खास कर साहित्य के संपर्क में आने के बाद। फिर भी मैं मुक्ता के किसी काम में बाधा नहीं डाल रहा। यूं भी सैंडी से मेरा लगाव रिश्ते के परंपरागत सूज से नहीं आत्मा के अदृश्य सूत्रों से जुड़ा हुआ है। वह मेरा दमाद बाद में दोस्त पहले है। दुःख-सुख की हर अच्छी बुरी घड़ी में उसने मेरा साथ दिया है। दामाद भी बेटा ही होता है। यह उसने अपने व्यवहार और कामों से सिद्ध कर दिखाया है। हरप्रीत की शादी में जितनी मेहनत उसने की, जितनी प्रतिबद्धता से वह जुड़ा हुआ था, कितनी-कितनी मन्तों और अरदासों मान रखी थी प्रीति की शादी के लिए उसने, विरला ही करता है कोई इतना।

प्रीति के लिए लड़का देखने वही अकेला मेरे साथ कपूरथला गया था। रिंग सेरामनी हो जाने पर वह सबसे पहले गुरुद्वारे गया था। वहां अरदास की थी। उसके बाद उसने कानपुर फोन किया था। सब कुछ तय हो जाने की खुशी उसके चेहरे पर सूरज की तरह दमकती रही थी। प्रीति की शादी की वीडियो कैसेट में सबसे पहले वही मेरे साले कलविंदर के घर का जालीदार दरवाजा खोल कर कैमरे के सामने प्रकट होता है। उफ!...

शाम के धुंधलके में घुलता सीसे सा वजनी अँधेरा। लगता है आई.सी.यू. वार्ड के मुख्य द्वार की ओर झुकी शीशम की डंगाल इस अँधेरे के बोझ से चरमरा कर टूट जाएगी। वार्ड की पूर्वी दीवार के निकट खड़े सेंपल के दानवकद वृक्ष से जब कोई फूल टूट कर गिरता है तो लगता है कोई पत्थर गिरा है। शाम का धुंधलका थरथरा उठता है। खामोशी के स्याह जल में देर तक वृत्त बनते-टूटते रहते हैं।

16 मार्च 2001

यूं लग रहा है जैसे मेरी छाती नदी पर बना कैंचियों वाला पुल है। जिससे दर्द रेलगाड़ी की मानिंद आग और धुंआं उगलते हुए गुजर रहा है। एक तीखी सीटी की तरह घुटी हुई चीख भीतर गूंज रही है।

सिद्धनाथ घाट के निकट शव दाह हेतु बने टीन के सायबान के नीचे सैंडी की चिता धू-धू कर जल रही है। मेरी देह से जैसे प्राण निचुड़ गए हों। अपनी जिंदा लाश को ढोकर सायबान से कुछ दूर बने एक वृक्षा के चबूतरे पर बैठकर भीगी आंखों से एक मित्र रिश्ते का देह-दहन देख रहा हूं। कुछ वक्फा पहले सैंडी के सम्मान में एयरफोर्स की फ्यूनरल परेड हुई थी। चकेरी एयरफोर्स स्टेशन के एयर आफिसर कमांडिंग ने सैंडी के शव पर वृत्ताकार पुष्पहार चढ़ाया था। ग्यारह बंदूकों की सलामी दी गई थी। दुःख के साथ गर्व भी हुआ था, एयर फोर्स की अपने एक सार्जेंट की इतनी परवाह, इतना सम्मान!

पर अब भीगी आंखों के पनीले पर्दों पर बेटी का भविष्य भीषण सर्दी में ठिठुर रहे बूढ़े भिखारी सा कांप रहा है। समझ नहीं आ रहा क्या होगा अब? फटी-फटी आँखों से अपने चारों ओर देखने लगता हूं। हैरान हूं, जिस वृक्ष के चबूतरे पर बैठा हुआ हूं वह भी सेंमल का ही दानवकद वृक्ष है। फूलों के रूप में मांस के लोथड़े चबूतरे के चारों ओर यहां भी बिखरे हुए हैं।



## कविता

### रामदरश मिश्र

#### तू मुझे जानता है?

आज वह फिर  
विद्वानों की सभा में वाणी-विजय करके लौटा था  
और ज्ञान-विजय की एक लंबी परंपरा  
अद्भुत गर्व बनकर उसके भीतर लहरा रही थी  
वह सोचने लगा  
वह यह भी जानता है, वह भी जानता है  
धरती और आकाश के बीच जो कुछ है  
उसके ज्ञान में समाया हुआ है  
तभी एक चमत्कार हुआ  
एक छोटी सी ज्योति-मूर्ति  
उसकी आँखों के आगे जगमग करने लगी  
और उससे पूछा-  
'तू मुझे जानता है क्या रे?'  
वह बोला  
'अरे तुझे कभी देखा नहीं तो जानूंगा कैसे?'  
मूर्ति हँसी, बोली- 'मैं तेरी आत्मा हूँ रे मूर्ख'  
और उसके भीतर समा गई।

#### जाड़े का दिन था

जाड़े का दिन था  
मेरे एक रईस मित्र ने  
दोपहर को मुझे खाने पर बुलाया  
उनकी कॉलोनी में पहुंचा तो  
वहां सन्नाटा छाया हुआ था  
ऊंचे-ऊंचे घर एक दूसरे से कटे हुए

अपने में खोए हुए थे  
चाहा किसी से मित्र के घर की स्थिति पूछूं  
लेकिन सड़कें सुनसान पड़ी थीं  
एक मिल गया, उससे पूछा  
उसने अनमने स्वर में कहा- 'पता नहीं'  
मैं अपने मोहल्ले में लौट आया  
जहां हर ओर चहल-पहल थी  
अनेक घरों की स्त्रियां इकट्ठा होकर धूप सेंक रही थीं  
सड़कों पर लोगों का आना-जाना लगा हुआ था  
चौराहे पर अलाव जल रहा था  
उसे घेरकर श्रमिक बैठे हुए थे  
मुझे लगा कि  
एक मनहूस खामोश दुनिया से निकलकर  
हँसते-चहचहाते लोगों की दुनिया में लौट आया हूं

### वापस जा रहा था

मैंने सुना नहीं  
वह कोयल के स्वर में निरंतर गा रहा था  
मैंने महसूस नहीं किया  
वह अनंत रंग-बिरंगे फूलों के रूप में  
आदिगंत महमहा रहा था  
मैं कमरे में बंद होकर  
वसंत के बारे में सोचता रहा  
और जब द्वार खोल उससे मिलने चला  
तब देखा  
वह धीरे-धीरे वापस जा रहा था।

### किताबें रह जाएंगी

आप सिद्धांत जीते रहे  
वह जिंदगी जीता रहा  
आपका प्रयास था कि आप  
निरंतर एक बंधे हुए विचार के शिखर की ओर  
बढ़ते जाएं

वह सहज ही आसपास के लोग से जुड़कर  
जीवन-विस्तार बनता गया  
आप बड़े बने रहे कुछ लोगों के जयजयकारों के बीच  
वह प्रकट या अप्रकट रूप से  
पास और दूर के लोगों का प्यार बना रहा  
कल जब न आप होंगे न वह  
तब किताबें ही रह जाएंगी  
आपकी किताबें सजी रहेंगी आलमारियों में देखती रहेंगी गर्वोन्नत भाव से  
आने-जाने वालों को  
और कभी-कभी शोधार्थियों के हाथों की भी  
शोभा बढ़ाएंगी  
उसकी किताबें  
तमाम चिकने और खुरदरे हाथों में आती जाती रहेंगी  
और लोग उनसे सुख-दुःख की बातें बतियाते रहेंगे  
और खोजते रहेंगे जीवन का रास्ता ।

### कौन है तू?

कौन है तू?  
प्रश्न सदियों से मुखर है  
किंतु साधे मौन है तू ।



## विष्णु नागर

### वह मेरे पापा हैं

बच्चूराम जब तुम कुछ छोटे थे  
तो हम भी कुछ मोटे थे  
तब हम कहते अप्पू हमारा बेटा है  
तो तुम कहते नहीं, वह मेरे पापा हैं  
हम कहते लेकिन वह हमारा बेटा भी है  
तुम कहते नहीं, वह मेरे पापा हैं  
वह आपके बेटे नहीं हैं, नहीं हैं  
क्यों पापा, क्यों अम्मां नहीं हैं न  
तुम रोने-रोने को हो आते  
हम तुमसे हार जाते

अब तुम इस बात पर नहीं झगड़ते  
लेकिन जब देखो तब  
जहां देखो वहां बात-बात पर  
हमारे कान काटते रहते हो  
हम मुश्किल से जुड़वाकर आते हैं  
तुम फिर से काट देते हो  
फिर से जुड़वाते हैं  
फिर काट देते हो  
बेचारा कान फटा- टूटा कपड़ा बन चुका है  
हम अब सोच रहे हैं  
इस बार कटे न हमारे कान  
तो हम जुड़वाएंगे नहीं उन्हें  
फिर क्या तुम हमारी पूंछ काट लोगे?  
और तुमने हमारी पूंछ काटी तो  
तो ये जो तुम्हारी मूंछें हैं न  
हम उन्हें काट लेंगे, समझे



हँस रहे हो मेरे प्यारे-प्यारे शैतान  
कहते हो कहां हैं मेरी मूछें  
मेरे छोटे से बदमाशों के बदमाश ।

### अच्छा बच्चूराम

अच्छा बच्चूराम  
तुम हमारा बहुत मजाक बनाते हो  
हमारी नकलें उतारते हो  
हमारे सामने तरह-तरह की शकलें बनाते हो  
हम पढ़ें तो पढ़ने नहीं देते हो  
तुम्हें कार्टून देखते समय कुछ कह दें जरा सा तो चीख पड़ते हो  
अपनी अम्मां की हमें धौंस दिखाते हो  
हम कहें दक्षिण तो तुम उत्तर जाते हो  
हम कहें पूरब तो तुम पश्चिम चले जाते हो  
हमारी अंग्रेजी की हँसी उड़ाते हो  
हमें सही उच्चारण सिखाते हो  
हम गाएं गाना तो वह गाना नहीं  
तुम्हारा तो चीखना-चिल्लाना भी गाना है  
है न?  
और तो और  
हम गुस्सा हों तो ऐसे हँसने लगते हो कि  
हमारी हँसी छूट जाती है

देखेंगे, देखेंगे  
यहां से नहीं तो किसी दिन ऊपर से देखेंगे  
मिट्टी बन गए तो उसमें से आँखें निकालकर देखेंगे  
तुम भी तो बनोगे कभी दादा- नाना  
तब देखेंगे, तब देखेंगे  
उस दिन हम अगर याद आएँ  
तो तुम्हें उदास होने से हम नहीं  
तुम्हारे नाती-पोते रोकेंगे  
तुम्हें इतना हँसाएंगे, इतना हँसाएंगे  
कि तुम्हारी आँखों में आँसू न आ जाएँ तो फिर कहना ।

## सूई

उनका सवाल था  
तुम क्या हो  
क्या कहता  
मैंने कहा जी, मैं तो बस सूई हूँ  
धागा पिरोने की देर है  
सिलने के काम आ जाऊंगा  
अरे सूई हूँ सूई  
नहीं समझे क्या  
हां सूई, हां भई सूई  
वैसे सच है  
मुझमें समझने के लिए है क्या  
है क्या मुझमें?  
सूई ही तो हूँ  
सूई सूई सूई।

## वह सीता नहीं है

हां वह सीता नहीं है  
और मैं राम भी नहीं हूँ  
न मैं दशरथ के घर पैदा हुआ  
न पिता का वैसा आज्ञाकारी बना  
कि वन-वन भटकता फिरूं  
सीता का अपहरण हो जाए तो  
वानरों को संगठित कर  
लंका पर आक्रमण कर दूँ  
विजयी होऊँ फिर राजा बनूँ  
प्रजा के कहने पर फिर सीता को घर से निकाल दूँ  
वह ऐसी सीता नहीं है  
कि मेरे पीछे डोलती फिरे  
अग्निपरीक्षा तो वह मरकर भी न दे  
पति निकालकर तो देखे उसे  
वह ऐसी नहीं कि चुपचाप चली जाए  
जाकर धरती में समा जाए

हां मैं मर्यादा पुरुषोत्तम नहीं हूं  
मैंने शिव का धनुष उठाकर  
अपनी सीता का वरण नहीं किया था  
मैंने घरबार छोड़ा था  
लेकिन पेट पालने के लिए  
लड़ा था मगर रावण से नहीं  
किसी दुश्मन से भी नहीं  
लड़ा था हकों के लिए  
हारा ज्यादा हूं, जीता कम  
हां राम की तरह मरा तो मैं भी नहीं लड़ते-लड़ते  
फिर भी न मैं राम हूं, न वह सीता

हम तो वैसे ही हैं  
जैसे आप हो  
उतने ही अच्छे हैं  
उतने ही गलीज हैं।

### जो चलेगा

चला हूं तो थका भी हूं  
ठोंकरें भी लगी हैं, गिरा भी हूं  
घुटने छिले हैं, खून निकला है  
कभी कहीं पहुंचा  
कभी भटकता रह गया हूं  
कभी निर्जन में मैं अकेला था और चाँद था  
कभी वह भी नहीं था मगर मैं था  
कभी अपने फैसले पर पछताया हूं  
लेकिन चला हूं  
उन रास्तों पर चला हूं  
जहां पगडंडियां तक नहीं हैं  
डरा हूं फिर भी चला हूं  
कीचड़ में धंसा हूं और चला हूं  
हां कई बार बीच रास्ते से लौटा हूं  
हां कई बार  
घर की याद में जार-जार रोया हूं।

## अनंत मिश्र

### फोर लेन सड़कें

फोर लेन सड़कें  
कुत्तों की असामयिक मृत्यु का कारण हैं  
यह नकारात्मक विचार  
कवि होने के नाते  
व्यक्त करने के लिए माफी मांगता हूँ  
फोर लेन सड़कें छोटे कस्बों को  
खत्म कर देने की सफल चेष्टाएं हैं  
यह कहने के लिए भी माफी चाहता हूँ  
फोर लेन, आठ लेन, दस लेन, बारह लेन, सड़कें  
गरीब किसानों के बेटों, पोतों को  
किसान से मजदूर बनाने की  
प्रक्रियाएं हैं  
यह कहने और विकास विरोधी होने के लिए  
माफी चाहता हूँ  
दुनिया यह धीरे-धीरे  
गरीबों, कमजोरों को  
खत्म होने के लिए बाध्य करती  
लगातार तीव्रता से सभ्य हो रही है  
सभ्यता विरोधी होने के लिए  
माफी चाहता हूँ।

### हल्के-फुल्के क्षणों में

चलो मित्रों आज अभी  
फिलवक्त  
सस्ते और एकदम लफंगे लोगों की तरह  
चलें बाजार में  
जहां कुछ मटरगश्ती करें  
और रसगुल्ले खाएं  
पेट में जगह हो तो खाएं

कुछ चाट-चूट  
आँख सेकें  
सुन्दर स्त्रियों की  
देह-धूप से,  
कुछ गुनगुनाएं  
किसी शायर या गीतकार की  
कुछ रसीली पंक्तियां दुहराएं  
पेड़ों से मिलते,  
चिड़ियों को सुनते  
आपस में राजनीति में लड़ते  
पक्ष-विपक्ष होते  
कमीनों को गरियाते  
घर लौट आएं  
अलग हो जाएं जब मित्रों से  
तो एकांत में  
संगीत सुनते  
दिन बिताएं  
और-इसी तरह के दिनों की कल्पना में जीते हुए

कई दिनों तक जीते चले जाएं,  
कहेंगे वे  
जो विचारों के धनी हैं,  
राष्ट्र के भक्त हैं  
या ईश्वर के भक्त  
समाजवाद के प्रहरी  
या अहिंसा के पुजारी  
बाल ब्रह्मचारी, एक पत्नी व्रतधारी  
चरित्र के देवता  
और समाज-निर्माण के ठेकेदार  
स्वर्ग के अभीप्सा  
या ईश्वर-से मिलने को आतुर  
कहें हमें बुरा-भला,  
पर मित्रों, हम परवाह न करें,  
एक दिन तो होना ही है  
हमारा सर्वनाश

कुछ दिन तो बचाएं  
अपनी प्यास और जीने  
आनंद लेने की इच्छा  
थोड़ा लिखना बहुत समझना  
कविता के हलके में  
तरबूज बेचने से भी  
कुछ तो होता है  
हिंसा और लोलुपता  
और महानता के  
रण-कौशल की भाषा में  
रहने से ज्यादा,  
असीम और अमृत ।

### क्या कोई करेगा ऐसा भी सुसाइड

नहीं रह गई है यह धरती  
अब रहने लायक  
यह सोचकर यदि कोई  
आत्महत्या करता  
तो पुण्य का काम होता  
आत्महत्या वे लोग कर रहे हैं  
जिन्हें नहीं मिला अपने अनाज का  
अपेक्षित मूल्य  
जिन्हें नहीं मिली नौकरी  
नहीं हुआ मुनाफा  
नहीं हुए प्रतियोगिता में सफल  
नहीं मिला अभीष्ट प्रेम का आलंबन  
या नहीं रह गया अच्छा स्वास्थ्य  
कि वे मजे में अंत और औरत का स्वाद चख सकें  
नहीं मिला सम्मान  
जिसका हकदार होने का दंभ वे पाले थे  
यानी सब व्यक्तिगत कारणों से  
प्रायः आत्महत्या कर रहे हैं  
क्या कोई ऐसा भी मिलेगा  
जो सार्वजनिक दुःख से

सुसाइड करेगा  
और कम से कम  
इस समाज में एक संदेश  
अपने सुसाइड नोट में  
छोड़ जाएगा?

### एक सुबह

एक सुबह मुझे अचानक लगा  
कि मेरा अहंकार मुझसे  
लिखवाता रहा कविताएं  
वक्त कराता रहा  
विचार  
सहसा कौन और  
एकांत में  
चित्र हुआ शांत  
और शब्द मुझे गूंगे लगने लगे

### विच्छिन्न पात

पार्क में टहलते हुए  
सूखे पत्तों के गिरने का  
खयाल कुछ कम परेशान करने वाला था  
पर अचानक एक हरा पत्ता-पीपल का  
पांव से टकराया  
तो खयाल आया  
कि इसका जीवन असमय समाप्त हो गया  
हमने कुछ तय कर लिए हैं मानक  
और समय के चौखटे  
और उसी से तय करते हैं  
जीवन-मृत्यु का हिसाब-किताब  
जाहिर है कि यह हमारा हिसाब-किताब है  
और हम आदमी लोग  
हर चीज का हिसाब-किताब रखते हैं  
पत्तों में वह है कि नहीं

नहीं जानता  
पेड़ में है कि नहीं  
यह भी नहीं जानता  
प्रकृति में है कि नहीं  
यह भी नहीं जानता  
हमारी आत्मा के परमात्मा में  
है कि नहीं  
यह भी नहीं जानता ।  
असल में हिसाब-किताब

प्रकृति, प्रेम, कविता  
और जीवन की स्वाभाविक भाषा नहीं है  
आदमी की भाषा की तरह,  
पर इतना तय है कि  
जो जुड़ेगा, जनमेगा  
वह टूटेगा, मरेगा,  
कहने वाला कहेगा,  
सहनेवाला चुप रहेगा ।





## नरेन्द्र पुण्डरीक

### स्त्री होने की कोई जाति नहीं होती

(एक)

अभी-अभी जो घटना घटी है  
उसने जता दिया है कि  
स्त्री होने की कोई जाति नहीं होती  
स्त्री सिर्फ स्त्री होती है  
न वह सवर्ण होती हैं न अवर्ण न विवर्ण  
न शुरू में होती है न अंत में  
वह हमेशा दो पार्टों के बीच  
धरी होती है दाने की तरह  
पिसने के बाद निघारने के लिए लाई जाती है  
एक भिन्न गोत्र की स्त्री ताकि बनी रहे  
फिर से एक और स्त्री की जगह  
जो आए और जो गए उसकी बतकही में  
स्त्री होने के लेकर कोई बात नहीं कही गई थी  
केवल जाति-जाति चिल्लाए थे चूंकि  
इस भेड़िया धसान समय में  
जाति एक वोट है  
जबकि स्त्री केवल स्त्री होती है  
उनकी बात में।

(दो)

उनके गुस्से में केवल जाति थी  
स्त्री का कहीं अता पता नहीं था  
जाति को वह इतना मथ देना चाहते थे कि  
अभी न सही लेकिन  
'सनद रहे और वक्त पर काम आए'  
जाति जो इस वक्त बिखरी और

टूटी हुई सी दिख रही थी  
लगे कि वह है और  
इस देश में हमेशा रहेगी  
स्त्री भले ही न रहे  
रहे लुटती रहे  
चिंथती रहे  
लेकिन जाति बनी रहे हरी भरी।

### इनकी आंखों में सूरज के सातों रंग थे

(एक)

गांव के स्कूल में लड़कों की तरह  
पढ़ी थी यह लड़कियां  
उन्हीं की तरह पाया था अक्षर ज्ञान  
जल्दी-जल्दी घर के काम बूत से निपट आती थी स्कूल  
और सबके साथ मिलकर गाती थी  
'सूख सूख पटरी चंदन घोटती'  
उनकी पट्टी सबसे पहले सूखी हर बार  
हर बार इन्होंने सांचों में सबसे चटक रोशनाई भरी  
मास्टर ने इनकी पीठ थपथपाई  
मां की आँखें चमकी  
पिता की छाती फूली  
जो इन्होंने मांगा पिता ने दिया  
वैसे ही संवारा मां ने  
चिड़ियों की तरह हर कही फुर्र फुर्र उड़ती फिरीं  
इनकी आंखों में सूरज के सातों रंग थे  
इनकी उड़ान में हवा को वेग था  
धरती थी कि गंध थी  
फूलों का सौंदर्य था।

(दो)

इनकी फ्राक और चुन्नी का रंग  
इस पेड़ की पत्तियों से इकमिल था  
अभी कल ही तो यह गुजरी थी  
इसी पेड़ के नीचे से  
यहीं से दौड़ लगाकर फुर्र से दोनों

पहुंची थीं घर  
पिछले साल राजधानी की सड़कों में  
कुछ लड़कियों ने अपना होना बताया था कि  
हम भी हैं दिल्ली में  
दिल्ली में कबूल कराया था अपना होना  
अब बढ़ाया हो या बांदा हर कहीं  
वह हैं और अपने ऊपर चलकर  
बता रहीं हैं कि वह हैं  
तुम्हारी हाथों से मजबूत हैं हमारी गर्दनें  
लोहा लाट है हमारी देह  
कहां तक यह देह विदारेंगे  
हमारी गर्दनों के लिए कम पड़ जाएंगी पेड़ों की डालियां  
थक कर बेदम हो जाएंगे तुम्हारे हाथ  
एक दिन टूटेंगे निश्चय ही तुम्हारे यह हाथ।

(तीन)

हमारे साथ हम हैं  
हमारे डैने हैं  
हमारे सपने हैं  
सपनों को मारना तुम्हारे बूते का नहीं है  
हमारे सपने ही हमारे डैनों की ताकत हैं  
तुम न सपने देख सकते हो  
न सपने मार सकते हो  
जो सपने देखता है  
वह सपने नहीं मारता  
जिन आँखों का रंग होता है  
अभी अभी तो यह अँधेरे के कपट कोट काटकर  
उजालों के रंगों में प्रवेश हुई थी  
आपको शायद न मालूम हो कि  
अभी अभी कुछ दिन पहले ही  
इन्होंने अच्छे दिनों के लिए अपनी पहल दर्ज कराई थी  
तब उस वक्त इन्होंने सोचा नहीं था कि  
अच्छे दिन ऐसे आएंगे  
कि अँधेरा लपलपाती धूप में इस तरह टहलेगा।

## लालित्य ललित

### जन्मदिन

घर का बुजुर्ग  
कभी नहीं कहेगा  
मेरा जन्मदिन मनाओ  
पर घर की स्त्री यह जरूर कह देती है  
पापाजी!  
आप ड्राइंग रूम में बैठे हो  
कमरे की लाइट जल रही है  
क्या बंद कर दूं  
पिताजी बेहद बुजुर्ग हैं  
कम सुनाई देता है  
आँखों की तकलीफ है  
वह तो हुंडी है  
कब खर्च हो जाएं  
सब जानते हैं  
सबको अपना फायदा दीखता है  
मतलबी दुनिया  
मतलबी लोग  
केक से सटे लोग  
मक्खन से लोग  
अपने स्वार्थ को साधने में लगे हैं  
किसी का लक्ष्य साफ है  
किसी का फंडा  
केक कटा, तालियां बर्जी  
बोतल खुली  
जिंदगी का फलसफा  
सबके सामने था  
हैपी बर्थडे जी, हैपी बर्थडेजी।

## महसूस करना

कभी  
महसूस करो  
हवा को  
जल को  
पृथ्वी को  
संबंधों को  
मां को  
पिता को  
बचपन की सीख को  
पार्क में पड़ी कुछ टूटी हुई ईंटों को  
देखा!  
इनमें भी गजब का स्पंदन है  
यह तभी महसूस होगा  
जब आप के भीतर जल होगा  
जब संवेदनाएं आपसे रूबरू होना चाहेगी तब  
अब नजर भरकर  
चहचहाते पक्षियों का वार्तालाप सुनो  
सुनो!  
उसकी ताजगी को  
उनकी रूह को  
उनके स्पंदन को  
जरा भर भी इनसान से अलग नहीं है  
उनकी संवेदना  
अब लंबी सांस लो  
भीतर एक ताजगी भरा विश्वास कल्लोल करता महसूस होगा  
अगर ऐसा ही कुछ हुआ  
तो आपकी संवेदनाएं थोड़ी सी बची हुई हैं  
मेरी तरह।

## भीतर से लपको

जो कुछ भी है  
वह भीतर है  
बाहर तो केवल आडंबर

अंदर से निकालो  
वहां सब है  
तप है, ज्ञान है, खुशी है और बेबाकी भी  
जितना टहला  
देखा सब  
पाया और जाना  
जो दौड़ रहे कुछ पाने को  
वह तो अपने पास पहले ही था  
लेकिन जाना अब  
माना अब  
और  
पाया अब  
जो है ईश्वर है  
आदमी तो मिट्टी है  
गोबर है, उपला है  
जला और घर-गृहस्थी में लगा  
अंदर टटोलो बाहर नहीं  
बाहर तो बहार है  
अंदर क्या  
मौलिकता देखो, सराहो और कहो  
भीतर से लपकना  
लपकना कुछ ऐसे ।

### संबंधों को जीते हम

मैं संबंधों को जीता हूं  
ओढ़ता हूं  
दौड़ता हूं  
उनके साथ-साथ  
गांव-गांव  
शहर-शहर  
संबंध मेरे भीतर पलते हैं  
भीतर ही तैरते हैं  
और  
अपनी धुन में राग भी अलापते हैं

मैंने अब जमाने की हलचल को  
कहीं दूर छोड़ दिया है  
कुछ नहीं रखा उनमें  
महज मिथ्या भर जिंदगी का आडंबर है उसमें  
अब मैं खुश हूँ  
अपने-आप में  
अपने भीतर ही  
एक नया देश बसाया है  
जहां मक्कारी तो बिलकुल ही नहीं  
अब जो हो हो  
क्या फर्क पड़ता है  
शायद यही नियति हो  
सुनो!  
नियति मेरा नाम संबंध है  
दोस्ती करोगी  
यदि हां  
तो आओ छोले भटूरे का स्वाद साथ लेते हैं  
बाकी तुम्हारी मर्जी।



## यह, वह देश तो नहीं

देवेन्द्र चौबे

मॉरीशस डायरी का यह पाठ 2010 में मॉरीशस प्रवास के दौरान लिखा गया। इस बीच लगातार वहां के लेखकों और अध्येताओं से बातचीत होती रही। इस दौरान डायरी की पांडुलिपि पुस्तकाकार रूप में तैयार हुई। इसी बीच वहां से कुछ लेखकों और छात्रों का जे.एन.यू. भ्रमण एवं अध्ययन के सिलसिले में आना हुआ। वर्ष 2014 में भारत की साहित्य अकादेमी ने वहां के प्रसिद्ध हिंदी लेखक अभिमन्यु अनंत को अपनी महत्तर सदस्यता प्रदान किया। इससे इस डायरी को समकालीन बनाने में मदद मिली। उन सबके प्रति आभार। यहां उद्धृत अंश अप्रकाशित डायरी के प्रारंभिक पाठ हैं :  
**भाषा संस्थान, एमजीआई/दोपहर 12 बजे**

आज एम.ए. के छात्रों से दलित साहित्य के इतिहास पर बात करके अच्छा लगा। एक छात्र ने लैपटाप के सहारे पूरे व्याख्यान की रिकार्डिंग की और एक कापी देने का वायदा किया। यहां अभी नए-नए लोगों ने दलित साहित्य पढ़ना शुरू किया है। यह पत्र यहां के लिए कितना उपयोगी है, कह नहीं सकता, पर मुझे लग रहा है इसे एक वृहत्तर परिप्रेक्ष्य में अन्य अस्मितावादी विमर्शों के साथ जोड़कर पढ़ाया जाना चाहिए था। मॉरीशस का समाज एक भिन्न किस्म का है। स्त्री साहित्य एक वैश्विक मसला है और उसे पढ़ाने में कोई समस्या नहीं है। कारण, यहां फ्रांस का गहरा असर है और वीमेंस स्टडीज अब एक वैश्विक पाठ्यक्रम बनता जा रहा है। हर देश के रचनाकार भी स्त्री साहित्य पर लिखते रहे हैं। मॉरीशस की एकलौती सबसे बड़ी स्त्री लेखिका भानुमति नागदान के साहित्य में भी स्त्री समाज है, पर वहां भी स्त्रीवाद या स्त्री विमर्श उस रूप में नहीं है जैसा अन्य देशों की लेखिकाओं में दिखलाई पड़ता है। यद्यपि उस प्रकार की चेतना यहां के प्रसिद्ध लेखक अभिमन्यु अनंत और रामदेव धुरंधर में भी है। पूजानंद नेमा से अभी तक मैं मिल नहीं पाया, पर उनका लेखन मुझे अच्छा लगता है। वह गहराई के साथ समय और समाज की गतिशील चेतना को महसूस करते हैं।

‘वह एक प्रतिभाशाली लेखक हैं।’ कल मैं जब मॉरीशस विश्वविद्यालय के पास में सिटी क्लीनिक में उनसे मिलने गया तो उन्होंने बताया, ‘उसकी रचनाओं में वजन है। पर है मुडी स्वभाव का। सही मायने में कलाकार। एक बार जब एमजीआई में कार्यक्रम था तब वह देर से आया। उसके हेड जागा सिंह ने कहा, आप अब आ रहे हैं। आपको एटेंडेंस नहीं मिलेगी। इस पर वह चुपचाप ऑफिस गया, एक प्लेन पेपर लिया और इस्तीफा देकर घर चले आए। दुबारा फिर नहीं लौटे। लोगों ने समझाया। पर बड़ा स्वाभिमानी है। नहीं ही आया जबकि उसके बच्चे पढ़ रहे थे।’ वह बता रहे थे, ‘अब थोड़ा



वह अपना संतुलन खोने लगा है। पब्लिक कार्यक्रम में अव्यवस्थित तरीके से बोलता है।’

उनके बारे में सुनकर दुःख हुआ। मैं स्वयं राज हीरामन को देखने अस्पताल आया था। वह वृहस्पतिवार से भर्ती थे। उन्हें ब्लड प्रेशर और डायबिटीज की शिकायत है। कुछ इंफेक्शन हो गया था।

पर राज हीरामन भी जीवट वाले आदमी हैं। देखने में भी अस्वस्थ लगते हैं पर लिखने की जिद्द ऐसी कि ऊबकर सोचते हैं कि सब कुछ बेच बाचकर भारत में बस जाया जाए। एक पत्रिका निकाली जाए और लेखक की जिंदगी जी जाए।

‘यह संभव नहीं है।’ मैंने कहा ‘राजेंद्र यादव, ‘हंस’ का प्रकाशन अपनी जिद्द में किए जा रहे हैं। कितनी मुश्किल से निकालते हैं। यह हमलोग ही जानते हैं। पर उनके सामने साहित्य को लेकर एक क्रांतिकारी चेतना है। इसलिए उन्होंने ‘हंस’ को नए विमर्शों की पत्रिका बनाया तथा स्त्री और दलित लेखकों को सबसे अधिक मंच दिया। भारत में भी जिस तरह की स्थितियां बन रही हैं वहां बिना बाहरी सपोर्ट के लेखक के लिए अब पत्रिका निकालना आसान नहीं रह गया है। निकाल लेंगे भी तो पढ़ेगा कौन? उसका वितरण कैसे करेंगे? रचनाएं कैसे लिखवाएंगे? ज्ञानरंजनजी ने ‘पहल’ को एक चुनौती के रूप में इतने समय तक निकाला। पर अब वह भी बंद हो गयी है।’

‘पर मेरा दम है।’ राज हीरामन बार-बार अपनी यह आकांक्षा जताते हैं। कभी-कभी बोलते-बोलते वह चुप हो जाते हैं। कुछ सोचने लगते हैं। शायद, अपनी ही दुनिया बनाते रहते हैं।

उनसे बहुत देर तक मॉरीशस के साहित्य जगत के बारे में बातचीत होती रही। उन्होंने बताया कि थोड़ी देर पहले गंगूजी मिलकर गए हैं। मुझे भी कल उनके यहां रात्रि भोज पर जाना है। उनकी पुत्री एमजीआई के हिंदी विभाग में प्राध्यापिका है।

‘हां, मैं मिल चुका हूं!’ मैंने हीरामनजी को बताया, ‘सर, गंगू जी से अभी नहीं मिल पाया है। सुना है, बहुत अच्छे आदमी हैं।’

‘ठीक सुना है। पूरे मॉरीशस में आपको उनकी आलोचना करते कोई दिखाई नहीं पड़ेगा।’ हीरामनजी ने बताया।

थोड़ी देर और बैठने के बाद मैंने उनसे विदा ली। रास्ते में आते वक्त मन का एक अजीब प्रकार की शक्ति का अहसास हो रहा था। आज पहली बार मैं मॉरीशस में हाफ पैंट, टीशर्ट और जोगर पहने हाथ में छाता लिए निकला था। पहले सोचा था, अस्पताल वाले क्या सोचेंगे, कोई मिलने आया होगा तो वह क्या सोचेगा? पर सब एक तरफ रखते हुए मैं निकल गया था। लौटते वक्त मौसम साफ था। आसमान में तारे आ रहा था। हवा में भी एक अजीब प्रकार की रोमांटिक ताजगी थी। पर मैं अकेला था। गाड़ियां सांय-सांय सड़क पर गुजर रही थीं, सोचा, थोड़ी देर सड़क पर बैठा जाए। घड़ी देखा, 7 बजकर 45 मिनट हो रहे थे। मॉरीशस के हिसाब में मुझे 7 बजे तक घर में होना चाहिए। लोग कहते हैं कि नशा करने वाले लड़के ईख के खेतों में छिपे होते हैं, ज्यों ही किसी को अकेले देखते हैं, घेर लेते हैं तथा सब कुछ छीन लेते हैं इसलिए मैं भी अब शाम में पर्स और घड़ी लेकर नहीं चलता।

पर मन नहीं माना। बैठने की जगह ढूंढने लगा। पर वह जगह मुझे एमजीआई के गेट तक कहीं नहीं दिखाई पड़ा। यहां की सड़कें सुंदर हैं। पैदल चलने के रास्ते भी व्यवस्थित बने हुए हैं। कहीं सड़क पार करनी है तो रेड लाइट की बटन दबा दीजिए, सारी गाड़ियां रुक जाएंगी। पर सड़क

पर बैठने के लिए, कहीं भी जगह नहीं बनाई गई है। अधूरा ख्वाब लिए मैं गेस्ट हाउस वापस आ गया। पर, बहुत दिन बाद, आज ठंडी हवा में पैदल चलकर अच्छा लगा।

**मोक्का : 8.45 बजे सायं**

आज दिनभर गेस्ट हाऊस में पड़ा रहा। कल वर्कशाप की तैयारी भी करनी थी और शाम को माधुरी रामधारी के यहां खाने पर जाना था। इसलिए काम में जुटा रहा। वैसे, जैसा कि फीडबैक मिला है, मुझे बहुत परेशान नहीं होना चाहिए। लोग ध्यान से आपकी बात सुनेंगे। संवाद की स्थिति मुश्किल से यहां बन पाती है। यदि संवाद होना भी है तो उसमें किसी प्रकार की चुनौती नहीं होती। घर मेरे लिए एक बड़ा वर्कशाप है और मैं जब भी ऐसी तैयारी करता हूं पता नहीं कहां से मेरे गुरु प्रोफेसर मैनेजर पांडेय आकर खड़ा हो जाते हैं। लगता है, मेरे सामने वह श्रोता होकर बैठे हैं और अब मेरी गलती पर टोकने वाले हैं। वह अपने छात्रों को कभी भी, कहीं भी डांट सकते हैं। हां, उनको जरूर, जिन्हें वह प्यार करते हैं। इसे कुछ लोग दुर्भावना से प्रेरित मान लेते हैं और इसका उन्हें खमियाजा भी भुगतना पड़ता है। वह धीरे-धीरे उनसे दूर होते जाते हैं। रश्मि भी मुझसे बार-बार कहती हैं, 'सर तुम्हें इतना डांटते हैं, बुरा नहीं लगता?'

'क्यों?' मैं कहता हूं, 'मुझे तो बहुत अच्छा लगता है। कम-से-कम, दिल्ली में एक आदमी तो ऐसा है जो मुझे डांट सकता है।' वह मेरी बात पर अजीब प्रकार से हाथ को मोड़ती है, पर इससे मेरे भावों में कोई परिवर्तन नहीं होता, 'आप सोचिए,' मैं रश्मि से कहता हूं, 'एक आदमी है, जो आपकी गलतियों को देख रहा है और उसे सुधारने के लिए डांटता है। उसमें एक अपनापन झलकता है। बचाने वाला प्यार होता है।' मैं कहता हूं, 'रश्मि मैं तो बहुत भाग्यशाली हूं, वह इतना करीब है। इसीलिए तो उनसे मिलने में डर लगता है। और एक बात बताऊं। मैं उससे कहता, कई बार उनके डांट के अधिक दिन हो जाते हैं तब मैं जानकर कोई गलती करता हूं और इंतजार करता हूं कि डांटें। आप नहीं डांटते हैं तो फोन करता हूं, फिर डांट पड़ती है।'

'अजीब हो! कहते हुए रश्मि चली जाती', तुम्हारे जैसा आदमी मिलना मुश्किल है।

शाम को माधुरीजी अपने इंजीनियर पति राजेश और बेटी के साथ मुझे लेने आयी। घर पर उनकी मां और पिताजी इंतजार कर रहे थे। गंगूजी से पहली बार मिली, उनके पूर्वज भी बिहार के आरा से आए हुए थे। जब उनको यह पता चला कि मैं बक्सर से हूं तब बड़े खुश हुए। भोजपुरी में बात करने लगे। अब मैं क्या करता, मैंने भी बात करने की कोशिश की। खाना खाते वक्त उन्होंने कहा-

'हई ले, कलछुल से भात निकाल ले।' उन्होंने चावल की डेगची मेरी तरफ बढ़ाई, 'सांझी खान भात खाल जा न?'

'ना', मैंने झूठ नहीं बोला, 'दिन में त हमनी के दाल, भात तरकारी खाइ ली जा पर राति में रोटी और तरकारी अधिका खाइल जाली।'

उन्हें मेरी भोजपुरी अच्छी लगी, 'यहां की भोजपुरी तो भ्रष्ट हो गई है। खाली क्रियापद भोजपुरी है', माधुरीजी ने कहा।

'पर फिर भी हमनी के घर में भोजपुरी बोले ली जा।' उन्होंने कहा, 'इ बताओ छपरा केले पड़ेला?'

'ओकरा खातिर त रऊवा के गंगा नदी पार करेके पड़ी', मैंने कहा, 'पटना से बस से छह-सात

घंटा लागेला ।’

‘एकर माने काव त’ उन्होंने एक वाक्य बोला, उसके क्रियापद भोजपुरी में था, शेष क्रियोल में ।

‘ना समझनी’, मैंने कहा ।

एकर माने है, हमनी के पहाड़ के नीचे मिर्चा बोड़ नी जा । ‘उन्होंने कहा’ अब बीच के शब्द भोजपुरी के हटे । नीमन से खा, अऊरी सब्जी ले ला । अचानक उनकी नजर मेरी थाली पर पड़ी ।

‘एगो हमार दोस्त बाड़न, जेएनयू में । उनकर पत्नी मॉरीशस के हई । उहो फ्रांस से पी-एच. डी. करले बाड़ी । उनकर पति आशीष एक बार मॉरीशस आइल रहलेन । एइला से लौटकर बोललन कि मॉरीशस के सब भोजपुरी भाई लोग फ्रांसीसी नाम बिगाड़ दे ले बाड़न जा ।’

‘ठीक बोललन है’, गंगूजी ने कहा है मनी के कहवां से शुद्ध-शुद्ध फ्रेंच बोलब जा? एहिसे ओकर भोजपुरी काम कर देते बानी जी । ऊइन लोग भी त हमार पूर्वज के नाम और गांव बिगाड़ देले रहलन जा । वह सच कह रहे थे । जब यहां के अप्रवासी रजिस्टर आप देखेंगे तब पता चलेगा कि उन्होंने अप्रवासी घर पर जैसा सुना और जितना सुना, उसी अनुसार उनके नाम और जाति रजिस्टर में दर्ज कर दिया । आज मॉरीशस का यह हिंदी समाज उसी नाम को जी रहा है ।

बहुत देर तक हमारी बात होती रही । आते वक्त, माधुरी जी तो नहीं, उनके पति के साथ गंगू जी और माधुरीजी की मां मुझे गेस्ट हाऊस तक छोड़ने के लिए आए ।

मॉरीशस में यह अच्छा लगा कि लोग आपका ख्याल रखते हैं । यदि खाने पर बुलाते हैं तो बहुत सम्मान देते हैं । आकर ले जाते हैं और छोड़ जाते हैं । कुछ लोग इसे दूसरे रूप में लेते हैं । पर उनके लिए वह अर्थ नहीं है, जो आमतौर से भारतीय जनता समझती है । वे इसलिए आपको ले आते और छोड़ जाते हैं कि यहां कई जगह ट्रांसपोर्ट की अच्छी व्यवस्था नहीं है । टैक्सियां बहुत मंहगी हैं । उनके घर गांव में हैं । शाम सात बजे के बाद सड़कें सुनसान हो जाती हैं और आपको रास्ता बताने वाला कोई नहीं मिलेगा । फिर आप क्या करेंगे? घंटों भटकते रहेंगे । कोई मिलेगा तो आपकी भाषा नहीं समझेगा ।

दरअसल हमारी जरूरतों ने हमारे जीवन को इतना उलझा दिया है कि हम किसी बात का सीधा अर्थ ले ही नहीं पाते हैं । मन भरमाते रहता है और हम भरमते रहते हैं । यह हमारा जो औपनिवेशिक दिमाग है, वह मुक्त होकर सोच ही नहीं पाता है जबकि ‘मन’ (Mind) हमेशा सचेत रहता है कि हम एक-दूसरे के ‘मन’ को समझें । उन सामान्य भावों को समझे जिनका संबंध हमारी जीवन पद्धति से है । पर हम इतने जल्दबाजी में होते हैं कि कुछ भी हमारे साथ नहीं होता; न हमारा मन, न हमारा समाज । शायद दुनिया ऐसे ही चलती है ।

**मोक्का/6.30 बजे सुबह**

आज तो गजब हुआ । वह चिड़िया फिर मेरे कमरे की खिड़की पर आई, और उसे खुलता देख मेरे बगल से उड़ती हुई दरवाजे से बाहर चली गई । इतना साहस? बाप रे, यदि मॉरीशस की यह छोटी-सी चिड़िया इतनी साहसी है तो बड़ी-बड़ी चिड़ियाएं?

गुलशन एक दिन बता रहे थे, पहले यहां एक बहुत विशाल पक्षी हुआ करता था- डोडो । अब उसकी प्रजाति यहां लुप्त हो गई है । यहां के प्रसिद्ध लेखक अभिमन्यु अनतजी ने बतलाया कि वह थोड़ा आलसी होता था । अधिक नहीं उड़ पाता था । डच लोगों ने उनका खूब शिकार किया । यहां

मॉरीशस में एक मुहावरा चलता है 'डेड एज डोडो' (As Dead As DODO) यानी कि ऐसे मरोगे जैसे डोडो मरे। पूरी तरह लुप्त! एक ऐसी प्रजाति की तरह अंत जो अब पूरे विश्व में कहीं नहीं है। पंचतंत्र और चंद्रकांता संतति की जादुई कहानियों जैसा।

वाकई मुझे आश्चर्य हुआ और अच्छा भी लगा। यदि यह परसों वाली चिड़िया है तो उसके साहस का कहूं या दुःस्साहस की दाद देनी पड़ेगी। इसका मतलब उस दिन मेरे कमरे में वह दाना नहीं, बल्कि आने-जाने का सेफ पैसेज (सुरक्षित मार्ग) ढूंढ रही थी। और अब उसे उसकी पहचान हो गई है। इसीलिए वह आज बिना रुके, कूद, खिड़की-दरवाजा खुला देख- उड़ती हुई पूरब दिशा में चली गई।

यह सुंदर है कि आप मॉरीशस में जब सुबह 6-6.15 तक जग जाते हैं तो थोड़ी देर के लिए सुबह की सुंदरता आपके सामने होती है। चिड़ियों की चहचहाहट और धीरे-धीरे पेड़ के पत्तों का हिलना- एक रोमांटिक वातावरण की सृष्टि करते हैं। आसमान यदि साफ हो तो एकदम नीला दीखेगा, उसमें कहीं-कहीं दूर-दूर, खासकर पूरब दिशा की दूसरी ओर आसमान में थोड़ा-सा लालीनुमा उजाला दीखेगा, यह उजाला तभी दीखता है, जब वहां कुछ सफेद बादल के टुकड़े हों।

#### **सुब्रह्मण्यम भारती सभागा/10.55 सुबह एवं 17.30 बजे सायं**

आज पहली बार मेरा सामना मॉरीशस में हिंदी के पठन-पाठन से जुड़े समुदाय से एक साथ हुआ। साहित्य के इतिहास पर केंद्रित कार्यशाला में विभाग के अध्यापक, छात्र और प्राथमिक विद्यालय के करीब शिक्षक आए थे। मुझे भी अच्छा लगा कि पहली बार इतने बड़े समुदाय के सामने अपनी बात रखने और सुनने का मौका मिला। पर सबसे अधिक खुशी मुझे रामदेव धुरंधरजी को देखकर हुई। वे मॉरीशस के मशहूर लेखकों में से एक हैं। उनसे सिर्फ मैंने कहा था कि आज साहित्य के इतिहास पर एक वर्कशाप है और वह कार्यक्रम में आ गए। यह हमने अच्छा किया था, कि विभाग के लोगों से सामान्य इंटरैक्शन के बदले, हमने उसे एक वर्कशाप में तब्दील कर दिया था।

सबसे दिलचस्प मुझे वह हिस्सा लगा, जब मेरे थीम नोट के बाद संवाद की शुरुआत हुई और एक शिक्षक ने पूछा कि : यह सब तो ठीक है, परंतु मॉरीशस के साहित्य के इतिहास को हम कैसे समझें ?

मेरे लिए यह मुश्किल सवाल था, पर प्रोजेक्ट पर मीटिंग के दौरान गुलशन, विनय, संध्या, अभिमन्यु अनंत से लगातार अप्रवासी साहित्य पर बातचीत होती रही है और थोड़ी बहुत समझ मेरे बनने लगी थी कि यहां के साहित्य को किस प्रकार देखा जाए? उसके मूल्यांकन की पद्धति क्या होगी।

'यह एक मुश्किल सवाल है', थोड़ी देर मैं सोचता रहा, 'हमलोग 1857 से 2009 के बीच के हिंदी साहित्य के इतिहास पर बातचीत कर रहे हैं। पर आपका सवाल मुझे अप्रवासी साहित्य के इतिहास को समझने के लिए एक रास्ता दिखा रहा है। अनंतजी यहां के बड़े लेखक हैं', मैंने कहना जारी रखा, पर वही केंद्र में नहीं है जैसे कि कुछ लेखकों ने बनाने की कोशिश की है। मगर आप मेरी राय जानना चाहेंगे तो मैं कहूंगा शर्तबंद प्रथा के रूप में जब से मॉरीशस में अप्रवासी मजदूरों का आना शुरू होता है तब से आपका साहित्य शुरू हो जाता है। बहुत सारा लोक साहित्य होगा, जिसकी खोज अभी होनी बाकी होगी। उसके बाद 1909 में कुछ परिवर्तन होता है जब गांधीजी द्वारा भेजे गए मणिलाल डॉक्टर महा 'हिंदुस्तान' पत्रिका का प्रकाशन शुरू करते हैं और अप्रवासी समाज की आवाज उठाते हैं। 1935 में दुर्गा का प्रकाशन भी इस दौर की रचनाशीलता और सामाजिक चेतना

को समझने में मदद करता है कि किस प्रकार औपनिवेशिक दमन के खिलाफ लोग सक्रिय होते हैं। परंतु इसका परिवर्तन तब होता है जब 1943 में आनजाले कूपेन की पुलिस द्वारा शोषण के खिलाफ किए गए प्रदर्शन में मृत्यु होती है। आनजाले कूपेन को लेकर बहुत सारी लोक कविताएं लिखी गयी हैं। उसके बाद 1968 में आपका देश आजाद होता है यानी कि अप्रवासी साहित्य का इतिहास हम निम्न प्रकार देख सकते हैं।

प्रथम काल : 1834 से 1909 नवजागरण काल  
द्वितीय काल : 1909 से 1943 प्रतिरोध काल  
तृतीय काल : 1943 से 1968 संघर्ष काल  
चतुर्थ काल : 1968 से अब तक समकालीन साहित्य  
1834 के पहले को पूर्व पीठिका के रूप में देखा जाना चाहिए।'

शायद मैंने कुछ हद-तक सही कहा था तथा लोगों ने ही सर हिलाते हुए सहमति जताई।

‘पर सवाल है’, मैंने उनकी तरफ देखकर कहा, ‘इतिहास लेखन की पद्धति क्या होगी? हिंदी में यहां 1967 के पहले व्यवस्थित लेखन नहीं है जो भी है मौखिक साहित्य के रूप में है। अप्रवासी समाज की परंपरा में है जिसे यहां के भोजपुरी विभाग के लोग एकत्रित कर रहे हैं। पर मेरे साथ गुलशन, विनय, राजरानी गोबिन जैसे लोग बैठे हुए हैं और ये लोग इस दिशा में बेहतर काम करेंगे। इतिहास तो जितना लिखा जाए उतना अच्छा है। यह बोध हमारी चेतना में होनी चाहिए कि हमारा, हमारे समाज और साहित्य का एक इतिहास होना चाहिए।’

यह मुझे अच्छा लगा कि जैसी बातें बताई गई थीं, वैसा नहीं हुआ। कार्यशाला में जब अप्रवासी साहित्य के उत्पीड़न पर बात हो रही थी तब रामदेव धुरंधरजी ने कहा कि, ‘कई बार लेखक जो लिखता है, उसका आशय वही नहीं होता, जो आलोचक या पाठक लगाते हैं। जब मैंने लिखा था कि हाथ जब उठते थे तो कटते भी थे। पर फिर उग आते थे। विरोध में उठने के लिए। यह प्रतिरोध की चेतना है, जो मुझे यहां के मजदूरों के आंदोलनों में दिखाई देती रही है।’

‘पर सवाल है, ‘मैंने टोका’, यहां तो लेखक आपके सामने बैठा है, इसलिए वह आपके लिखे का अर्थ और प्रसंग बता रहा है; पर बहुत ऐसा नहीं होता। कई बार जब हम बहस करते हैं, लेखक वहां अनुपस्थित रहता है। और उसकी अनुपस्थिति को ध्यान में रखकर ही इसे बात करनी चाहिए। अकादमिक की दुनिया में कुछ ऐसा ही होता है।’

‘यह कैसे हो सकता है’, श्रोता में से एक व्यक्ति ने टोका। उनका नाम श्री मोहेस है। वह प्राइमरी स्कूल में डिप्टी हेड हैं तथा हिंदी पढ़ाते हैं। ‘धुरंधरजी हमारे सामने बैठे हैं, बोल सकते हैं।’

‘बोलो, पर धुरंधरजी कहां-कहां सफाई और जवाब देंगे?’ मैंने उनके साथ संवाद करने की कोशिश की, ‘एक अध्यापक के रूप में तो छात्रों को जवाब आपको ही देने हैं।’

‘हां, यह ठीक है’, गुलशन ने दखल किया कि ‘हमें लेखक को अनुपस्थित मानकर बहस करनी चाहिए।’

‘यह हमारे इतिहास लेखन की पद्धति में विचार का हिस्सा होना चाहिए।’ विनय ने बात को आगे बढ़ाया।

यानी कि ले-देकर अच्छी बहस हुई, बीच में ‘हिंदी संगठन’ के बहाने हिंदी विभाग के अध्यापक

के.के. झा. ने अपनी बात रखी। एक श्रोता ने मॉरीशस के इतिहास में हिंदी प्रचारकों और प्रतिबद्ध लोगों को जोड़ने की बात कही; खासकर वासुदेव विष्णु दयाल, सोमदत्त बखोरी, ईश्वरदत्त, रामप्रकाश आदि थे। उन्होंने मॉरीशस में आर्य समाज की भूमिका पर भी ध्यान देने की बात कही। नागरी प्रचारिणी सभा का भी उल्लेख हुआ। मुझे अच्छा लगा कि इस वर्कशाप के बहाने हमने इतिहास पर पुनर्विचार करने की कोशिश की, और लोगों को हमारी बातें अच्छी लगी। यद्यपि हमारे पास समय कम था तथा कार्यशाला 3.45 तक समाप्त कर देनी थी। संध्या, गुलशन, विनय, माधुरी ने इस वर्कशाप को सफल बनाने के लिए अच्छा माहौल बनाया। राजरानी गोबिनजी ने शुरुआत में वर्कशाप की भूमिका बनायी। यह उनकी ही पहल थी कि हमने इतिहास के बहाने मॉरीशस के लेखन और उसमें जुड़े समाज को टटोलने और संवाद करने तक लाए।

**मोक्का : 4.45 बजे सायं**

नाम	:	रामदेव धुरंधर, प्रसिद्ध लेखक
जन्म	:	11 जून, 1946, कारोलिन, पूर्व-दक्षिण मॉरीशस
कार्य	:	महात्मा गांधी संस्थान के प्रकाशन विभाग के संपादकीय विभाग में कार्य के बाद अब सेवानिवृत्त

आज वर्कशाप के बाद कुछ देर तक रामदेव धुरंधर से बात चीत करने का मौका मिला। साहित्य के प्रति उनके अंदर गहरा उत्साह है। कुछ नया सुनना और जानना चाहते हैं। उनकी उम्र 63 हो गई है फिर भी उत्साह ऐसा कि जवानों को भी मात दे दें। सिर्फ 'वर्कशाप में हम सब सुनने के लिए फ्लाक से बस में बैठकर आ गए, करीब 40 किलोमीटर दूर। तबियत ठीक नहीं रहती इसलिए कार कम चलाते हैं। जब मैंने उनके 'पथरीला सोना' की निम्न पंक्तियां उद्धृत की तो उसके बहाने अप्रवासी साहित्य के इतिहास पर जमकर बातचीत हुई : 'यातना शिविर : एक मीमांसा' हाथ तब भी यहां कटते थे हाथ आज भी यहां कटते हैं। हाथ तब भी यहां उगते थे हाथ आज भी यहां उगते हैं।

'बंधु, हमारा देश फ्रांसीसियों के अधीन रहा फिर अंग्रेजों का। बड़ी जुल्म हुए हमारे पूर्वजों पर।' वह अपने देश के इतिहास को बार-बार समझने की कोशिश करते हैं, 'फिर भी लोगों ने विरोध किया। अपने उपीड़न के खिलाफ आवाज उठायी।' थोड़ी देर ठहरे थे, 'मैं समझ नहीं पाता कि हमारी सरकार बार-बार आज भी फ्रांस के सामने क्यों घुटने टेक देती है। बेराजे विपक्ष के नेता हैं, फ्रांस से आए थे। अब यहां की राजनीति भी बड़ी हावी है लगता है फ्रांस के हित उनके माध्यम से सधते रहते हैं और उन्हें भी उस सपोर्ट से ताकत मिलती है।

'अब कोई विरोध नहीं होता?' मेरे पूछने पर उन्होंने कहा, 'किसका विरोध और कौन करेगा? कोई आपके साथ खड़ा नहीं होगा। पर हम अपने अतीत के बहाने खुद को पहचानने और भारत को जीवित रखने की कोशिश करते रहते हैं। यह हमारा सौभाग्य भी है और कुछ मामलों में दुर्भाग्य भी। भारत से जाने का मतलब, वहां की संस्कृति और धर्म को जाना भी है। आज भी हमारा समाज, उस दोराहे पर खड़ा है। हमारी नयी पीढ़ी के अंदर फ्रांस अधिक जीवित है।'

बहुत देर हम बात नहीं कर पाए। उन्हें बस से वापस जाना था, इसीलिए वह चले गए। इस वायदा के साथ कि हम जल्दी मिलेंगे।

**कात्र बोर्न : 6.45 बजे सायं**

नाम	:	भानुमति नागदान, प्रसिद्ध महिला लेखक
जन्म	:	1933
कार्य	:	स्वतंत्र लेखन
स्थान	:	कात्र बोर्न, मॉरीशस (निवास)

आज भानुमति नागदान जी ने हमें रात में खाने पर बुलाया था। गुलशन, विनय और विश्व हिंदी सचिवालय के मिश्राजी भी साथ थे। यद्यपि मिश्राजी देर से आए, पर हमारी पूरी बातचीत विश्व हिंदी सचिवालय और उसकी पूर्व महासचिव विनोदजी के आसपास घूमती रही। शायद यह सचिवालय का दुर्भाग्य था कि उनके जैसी स्वयं केंद्रित व्यक्ति का नेतृत्व मिला जिन्होंने सिर्फ वहां अपना समय व्यतीत किया। मिश्राजी ने उन बातों को भी बताया जो अत्यंत निजी थीं तथा जिन्हें यहां लिखना मुझे ठीक नहीं लग रहा। बातचीत में उस मॉरीशस की वह तस्वीर उभरी जिसमें यहां के कुछ लोगों ने भारतीय धर्म और संस्कृति के प्रचार के नाम पर मॉरीशस को खूब लूटा। उसके संसाधनों का दुरुपयोग किया।

‘अस्यजी तो यहां प्रिस्ट का काम करते थे,’ पर जब यात्रा करते थे, भानुमतिजी के एक रिश्तेदार आदर्श ने बताया कि, ‘उड़ान के समय लाउंज में जाकर बियर भी पीते थे। एक प्रिस्ट के लिए यह करना, उस समय मुझे अजीब लगता था।’

‘क्या कहा जाए!’ भानुमतिजी ने हाथ नचाते हुए कहा, ‘इन लोगों ने धर्म, संस्कृति और रामायण के प्रचार के नाम पर लोगों को खूब ठगा। उनकी भावनाओं का शोषण किया पर काम नहीं किया। चाचा रामगुलाम ने यह कहा, वह वहां आदि के नाम पर आजतक से देश को बेवकूफ बना रहे हैं। पर उनकी वास्तविकता लोग समझ गए हैं।’ भानुमतिजी ने कहा, ‘पर अब जो दूसरे भारतीय मॉरीशस आते हैं और इस प्रकार हिंदी, धर्म, संस्कृति आदि के क्षेत्र में काम करना चाहते हैं, अब उन पर लोग भरोसा नहीं करते!’

यह एक दुःखद प्रसंग था। भारत के एक लेखक के बारे में भी लोग कहते हैं कि उन्होंने यहां के लेखकों से किताब के प्रकाशन के नाम पर पैसा लिया, कई ऐसों को लेखक बनाया, जो लेखक होने लायक नहीं थे।

दरअसल जब कोई समाज अपनी पारंपरिक पहचान और जीवन पद्धति को बचाए रखना चाहता है तो उसे सहयोग, समर्थन और बचाने के नाम पर आप उसकी भावनाओं का खूब शोषण कर सकते हैं।

‘आज भी यहां मंदिरों में क्या हो रहा है?’ भानुमतिजी ने कहा, ‘कहना तो नहीं चाहिए, पर धर्म, पूजा और भाषा के नाम पर एक पूरा व्यापार चल रहा है जैसे भी लूटा जा सकता है देश को, लोगों को लूटो।’

भानुमति नागदान साहसी लेखिका है। पिछली बार भी जब मैं विनय और रश्मि के साथ मिला था, उनकी बेलाग बातचीत ने बहुत प्रभावित किया था। वह लोगों की आगे बढ़कर मदद करती हैं और पर उन्हें दुःख इस बात का होता है कि जब उनकी बात आती है वे लोग देखकर भी नहीं पहचानते। वह कहती हैं आगे आने से डरते हैं कि कहीं किसी ने भानुमति के साथ देख लिया तो बंटवारे में हिस्सा नहीं मिलेगा।

‘इन सबका चरित्र ही ऐसा है!’ उनके चेहरे पर नाराजगी के भाव साफ-साफ देखे जा सकते

थे, 'पर हम, क्या कर सकते हैं? उन्हें सुधारा तो नहीं जा सकता? बस दूरी बना लेना और ऐसे लोगों की हरकतों पर नजर रखो। एक्सपोज करो।'

खाने पर उनके छोटे भाई अमृतलाल आए थे। साथ में आदर्श और उसकी पत्नी, आदर्श की पत्नी यहां के प्रसिद्ध हिंदी कार्यकर्ता जयनारायण रॉय की भांजी है। जयनारायण रॉय की लोग खूब तारीफ करते हैं। उन्होंने ईमानदारी से इस देश की जनता और हिंदी के लिए काम किया।

'आप इस बार का चुनाव देखिएगा,' आदर्श यहां की राजनीति का अच्छा विश्लेषण करते हैं, 'जो लेबर पार्टी एक जमाने में डस्टबीन में चली गई थी, आज उसने एमएमएम और एमएसएम दोनों के बीच ऐसी दरार पैदा कर दी है, कि इनके बीच आपसी एकता अब असंभव है। आज दोनों लेबर पार्टी के साथ या आसपास दीख रहे हैं। चुनाव में इनके पास मुद्दे नहीं बचेंगे।' अनिरुद्ध जगन्नाथ बहुत बड़े लीडर हैं पर उनके पुत्र प्रवीण जगन्नाथ के अंदर वह क्षमता नहीं है। उसे आगे बढ़ाने के चक्कर में उन्होंने अपनी पार्टी के अच्छे-अच्छे नेताओं को पीछे कर दिया। कई तो आज लेबर पार्टी में मिनिस्टर हैं।

आदर्श बहुत साफ बोल रहे थे। 'गुलशन, आप लोगों को तो आदर्श को लेकर एमबीसी पर राजनीतिक विश्लेषक के रूप में बुलाना चाहिए।' मैंने कहा।

'सर,' गुलशन ने कहा, 'अगले दिन एमबीसी बंद हो जाएगा। यहां कोई अपनी आलोचना नहीं सुनना चाहता। आप सिर्फ तारीफ करिए। सब लोग आपको शाबासी देंगे कि आप बहुत अच्छा कार्य कर रहे हैं।'

हम लोग बहुत देर तक मॉरीशस की समकालीन राजनीति पर बात करते रहे। भानुमति नागदान से साहित्य पर कम ही बात हो पाई। पर वह स्त्रियों के सवाल पर काफी सजग हैं और एक स्त्री के नाते उन्होंने यहां के परिवार और समाज में पुरुषों की भूमिका की जर्बदस्त आलोचना की है। 'दरार' कहानी संग्रह में भी उनकी चेतना को देखा जा सकता है। 'पिताजी की तस्वीर' तो बहुत प्रभावशाली कहानी है। 'वसंत' के किसी अंक में मैंने पढ़ा था। यह पत्रिका महात्मा गांधी संस्थान की हिंदी की प्रसिद्ध पत्रिका है जिसे अभिमन्यु अनंतजी ने एक अच्छी पहचान दी थी। आजकल मॉरीशस के चर्चित कवियों में से एक राज हीरामन इससे जुड़े हुए हैं। हिंदी के अध्यापक हेमराज सुंदर संपादक हैं। पर आजकल यह पत्रिका अनिश्चितकालीन हो गई है। उधर कई महीनों से कोई अंक नहीं आए हैं आज मॉरीशस के अधिकांश लेखक इस पत्रिका में छपकर आगे बढ़े हैं इसीलिए इसकी कमी लोग महसूस कर रहे हैं।

'यह पत्रिका अब गलत हाथ में चली गयी है। उन्हें इसके सम्मान और इसके प्रकाशन की चिंता नहीं है।' गुलशन और विनय दोनों ने कहा, 'उन्हें तुष्टि के रूप में यह उपहार की तरह दिया गया। पता नहीं क्या करते हैं? पिछले लंबे समय से इसके अंक नहीं आए हैं।'

यह अजीब विडंबना है। तीसरी दुनिया के देशों की यह मुश्किल है कि वहां उपलब्ध संसाधनों का ठीक से उपयोग नहीं होता। यह चेतना यूरोपीय और अमरीका और जापान में अधिक है। जापान में तो हर चीज को लोग संयोजित करते हैं। कागज के छोटे-छोटे टुकड़े, जिन पर कुछ पंक्तियां लिखी हों, लेखकों के रफ़्ज़ाफ़्ट, अधूरे कार्य- सभी इस तरह संयोजित किए जाते हैं जैसे वह अमूल्य धरोहर हो।

पता नहीं, ऐसी चेतना कब हमारे समाज में आ पाएगी।





## ‘तानसेन सिरमौर रसिक जन के...’

राजेश कुमार व्यास

समग्र ललित कलाओं में संगीत ही ऐसी कला है जो प्रवाही है। बहते जाएं। बहते जाएं। स्वरों, वाद्यों का प्रवाह जिस ओर भी ले जाए, आप चले जाएं। न रोकें अपने आपको। इस न रोकने में जो आनंदानुभूति है, उसे महसूस भर किया जा सकता है। हर ओर हर छोर नयी आनंदानुभूति। आरोह-अवरोह में भावसृष्टि। आरोह यानि ऊपर। चढ़ते जाएं। अवरोह यानी नीचे। उतरते जाएं। यह संगीत ही है जो ऊपर ले जाता हुआ भी चढ़ने का दुरुहपन का अहसास नहीं कराता। यह संगीत ही है जिसमें उतरने की जल्दबाजी नहीं होती। संगीत में बिना अवरोह का आरोह हो सकता है। ..और केवल अवरोह भी होता है। आप ऊपर न जाते हुए भी नीचे आ सकते हैं। है न जादू! ऐसा जादू जिसमें कलाकार मनचाहा ‘स्पेस’ तैयार कर सकता है। संगीत क्षितिज-विहीन है। परंपरा का निर्वहन ही यदि इसमें हो तो फिर स्वाभाविक है उसमें जड़त्व आ जाए। शायद यही कारण है, कुमार गंधर्व, पं. भीमसेन जोशी, पंडित जसराज, मल्लिकार्जुन मंसूर आदि एक ही राग को अपने अंदाज में परोसते सुनने वालों को सर्वथा भिन्न और अनूठा रसास्वादन करा देते हैं। हर कलाकार अपने स्वर में ही नहीं अंदाज में भी राग का विस्तार करता है। एक ही राग को दो व्यक्ति यदि गाते हैं तो वे अलग अलग आनंद की सृष्टि करते हैं। क्या कहें...संगीत में भावसृष्टि कि भावों में स्वर, ताल, वाद्यसृष्टि। राग सुनें कि उसके रूप पर रीझें। ग्वालियर में तानसेन समारोह या कहूं उर्स में भाग लेते यही सब कुछ जेहन में कौंध रहा है।...संगीत में डूबते, मन के भावों में भी प्रवाह ऐसा है कि उसके साथ बहते और बहते ही जाना चाहता हूं। यह बहना ऐसा है जिसमें किनारे पर पहुंचने की कोई फिक्र नहीं है।...सोच रहा हूं-यह वह ग्वालियर नहीं है जहां पहले भी आ चुका हूं। पहले कभी इस बात पर गौर हुआ ही नहीं कि यही वह नगर है जहां संगीत सम्राट तानसेन चिरनिद्रा में सोए हुए हैं।

भोपाल से दूरभाष पर ‘कलावार्ता’ के संपादक आनंद सिन्हा का तानसेन समारोह में भाग लेने का जब निमंत्रण मिला था तब असमंजस में था।...जाना होगा भी या नहीं। यात्राओं को सदा ही मैंने मन से जिया है परंतु हर यात्रा से पहले पता नहीं क्यों ऐसा हो जाता है कि यात्रारंभ को लेकर अनिश्चय की सी स्थिति बन जाती है। इस यात्रा को लेकर भी ऐसा ही हुआ परन्तु तमाम आशंकाओं को दरकिनार करते मैंने उन्हें तानसेन उर्स में भाग लेने की हां भर दी। यहां आकर जो सुकून मिल रहा है, उसे क्या बयां किया जा सकता है! शायद नहीं।

समय पर प्रातः 9 बजे ही तानसेन समाधि स्थल पहुंच गया था। हरिकथा, मिलाद और

चादरपोशी के कार्यक्रम में भाग लिया। नाथपंथी संप्रदाय के संत श्रीकांतनाथर ढोलीबुआ महाराज का 'ईश्वर, अल्लाह एक' के उद्बोधन बाद मृदंग पर संतोष पुरंदरे तथा हारमोनियम पर अनंत पुरंदरे की संगत के साथ गणपतरावदेव एवं साथियों की सामूहिक भजन प्रस्तुति से अध्यात्म का रंग जैसे हर ओर बिखर गया।...और फिर हुआ मौलाना हाफिज मोहम्मद के नेतृत्व में मुस्लिम समुदाय द्वारा मिलाद का आयोजन। सांस्कृतिक एकता, परस्पर सद्भाव समन्वय और बंधुत्व की भारतीय परंपरा की अनूठी मिसाल का भागीदार हुआ। यह सच है, संगीत मन को तरंगायित करता है। यहां आकर मन अंदर से उल्लसित कुछ गा रहा है। कहीं कोई भटकन या अटकन नहीं। संगीत से आग और पानी बरसाने वाले सुर सम्राट तानसेन से जुड़ी ढेरों वे बातें कौंध रही हैं, जिन्हें पढ़ रखा है। '...तानसेन सिरमौर रसिक जन के...', 'धरा मेरू सब डोलहीं...'। आज समझ आया, हर राग में कलाकार क्यों यह गान करते हैं- '...भलो भयो जो विधि ना दिए शेषनाग के कान....' यानी अच्छा हुआ जो विधाता ने सर्प को श्रवणशक्ति नहीं दी, अन्यथा तानसेनजी की तान सुनकर अनंतनाग सिर हिला देते और मेदिनी यानी पृथ्वी ध्वंस हो जाती...। प्रातःकालीन संगीत सभा के विराम के बाद मन नहीं कर रहा कि होटल जाऊं। यहीं तानसेन की समाधि के पास वक्त बिताने का मन है। अभी तो दोपहर के 2 ही बजे हैं। सांय 7 बजे फिर से संगीत महफिल जमेगी। देखता हूं, समारोह स्थल पर तानसेन का छोटा सा मकबरा है। पुरातत्व विभाग द्वारा संरक्षित। पर तानसेन तो युगविराट हैं।

इतिहासकार अबुलफजल ने 'आईने-अकबरी' में अकबर के जिन छत्तीस प्रमुख संगीतज्ञों का विवरण दिया है, उसमें ग्वालियर निवासी तानसेन का खासतौर से जिक्र है। अबूलफजल ने तानसेन के बारे में लिखा है, 'उसके समान गायक भारत में कोई पैदा नहीं हुआ।...' उनके जन्म के बारे में भी बहुत सी किंवदंतियां हैं। कोई कहता है, वह 1500 ई. के आस-पास ग्वालियर से 28 मील दूर ग्राम बेहट में जन्में और बचपन में उनका नाम त्रिलोचन था। त्रिलोचन, तन्नू और तन्ना संगीत में निपुण हुए तो बांधवगढ़ के महाराजा रामचंद्र के दरबारी गायक बन गए। कहते हैं उन्होंने ही त्रिलोचन उर्फ तन्ना को तानसेन की उपाधि दी। जानकारी यह भी पढ़ने में आती है कि वह वाराणसी के भावभंगी-गीत गायक मुकुंदराम पांडे के पुत्र थे। उनका एक नाम रामतनु भी पढ़ने में आता है। रामतनु के जन्म से पहले उनकी माता को कई पुत्र हुए थे परंतु एक भी जीवित नहीं रहा। पिता मुकुंदराम पांडे को किसी ने बताया कि ग्वालियर में हजरत मुहम्मद गौस नाम के सिद्ध पीर हैं, उनके पास जाना चाहिए। उनके पिता ग्वालियर गए और हजरत गौस के आशीर्वाद से रामतनु का जन्म हुआ। तानसेन जब दस वर्ष के थे तब उन्हें स्वामी हरिदास मिले। उन्होंने उन्हें संगीत की शिक्षा दी। तानसेन के पिता मुकुंदराम और माता का भी जल्द ही देहांत हो गया। पिता जब मरणासन्न थे तब उन्होंने रामतनु को कहा था कि उनका जन्म हजरत मुहम्मद गौस के आशीर्वाद से हुआ है इसलिए वह उन्हें सदा मान दें। हजरत मुहम्मद गौस से मिलने तानसेन ग्वालियर आ गए। गौस ही उन्हें ग्वालियर दरबार ले गए, उनका विवाह करवाया। विवाद के बाद उनका नाम मुहम्मद अता अली खां भी हुआ।

बहुत कुछ और भी सुना-पढ़ा यहां उनके मकबरे के पास याद आता है। तानसेन शब्द तान से जुड़ा है। तान और सैन शब्दों को मिलाएंगे तो यह भी पाएंगे कि जो संगीत तान से सैन कर सकें यानी भाव विभोर, हृदय को द्रवीभूत कर सके वही हुआ तानसेन। गौर करता हूं, हजरत मुहम्मद

गौस की बेहद शानदार समाधि के पास तानसेन का यह छोटा सा मकबरा है। वहीं, उनकी समाधि पर अगरबत्ती कर रहे पीरनुमा व्यक्ति को देख उत्साह जगता है। उनके पास जाकर कुछ पूछना चाहता हूँ परंतु वह इशारे से मुझे चुप रहने को कह देते हैं। देखता हूँ, सूफी संत गौस की समाधि के पास खड़े वह ध्यान में है। थोड़ी देर बाद वह मुझे मजार के पास ले जाते हैं। कहते हैं, 'खुद तानसेन की इच्छा था कि उन्हें मरने के बाद गुरु की छांव सदा मिलती रहे। यही किया गया। आगरा में जब उनका निधन हुआ तो उनकी मृतदेह को समारोह के साथ ग्वालियर लाया गया। हजरत मुहम्मद गौस की समाधि के निकट उनकी देह को भी समाहित कर दिया गया।'

उनके पास बैठ तानसेन के गुरु मुहम्मद गौस के बारे में और भी बहुत कुछ पता चलता है। सूफी संत गौस मुहम्मद का यह मकबरा रूसार से निर्मित है। सम्राट अकबर ने इसे दतिया की जागीर से बनवाया था। बलुए पत्थर पर बारीक नक्काशी। जालियां, झरोखे। पाषाणों पर शिल्पी ने जैसे सौंदर्य बिखेर दिया है। ईरानी वास्तुकला का यह बेहद खूबसूरत नमूना है। मकबरे को निहारते फिर से सामने स्थित तानसेन के मकबरे के पास लौट आता हूँ। नीम और इमली के पेड़ों के पास करीब तीन फुट ऊंचे चबूतरे पर बना है तानसेन का मकबरा। बादशाह अकबर ने तानसेन मकबरे के ऊपर एक छतरी बनवा दी। इस समाधि के पास ही कुछ समय बाद इमली का वृक्ष उग आया था।

दोपहर में कुछ देर होटल हो आया था। सांझ हो गई थी। संगीत की महफिल जमने ही वाली थी सो अपने स्थान पर आकर बैठ जाता हूँ। तानसेन के मकबरे के ठीक पास इमली के उस वृक्ष पर ही फिर से नजर जाती है। पेड़ की झरी हुई पत्तियां। इस समय पूरी तरह से सूखा हुआ। एकदम टूठ। छोटी सी गिलहरी तने से कभी ऊपर तो कभी नीचे फूदकती आती पेड़ पर अठखेलियां कर रही है। ग्वालियर के युवा पत्रकार शशांक घोष मुझे यूँ पेड़ की ओर एकटक देखकर बताने लगते हैं- 'यह वही पेड़ है, जिसकी पत्तियां खाने के बाद बेसुरों को भी अपनी आवाज में मिठास आने की उम्मीद बंध जाती थी।' बताते हैं, तानसेन के मकबरे के पास महाराज माधवराज सिंधिया ने उर्स तानसेन की शुरुआत की थी। देश भर से इस उर्स में बरसों से संगीत साधक भाग लेते और अपनी कला का प्रदर्शन करते आते रहे हैं। इमली का यह पेड़ बाहर से आने वाले कलाकारों को अपने स्वर सुरीलें करने के लिए सदा लुभाता रहा है। कलाकार संगीत सम्राट के प्रसाद को ग्रहण कर स्वर साधना करते रहे हैं परंतु अब कहां है पत्तियां का वह प्रसाद! सोचते हुए मन बुझ जाता है। यूँ महसूस हो रहा है जैसे सुरों का सम्राट समाधि में सोया पेड़ों से झरे पत्तों के जरिए सूखती संवेदनाओं का गान कर रहा है। पेड़ों की छांव में रहने वाला तानसेन का मकबरा उजाड़ है। संगीत की महफिल यहां नहीं सजे तो कौन कह सकता है कि यह उस महान गायक का चिरनिद्रा स्थल है जिसने स्वयं अपनी संगीत परंपराओं का निर्माण किया। संगीत जगत के एकनिष्ठ साधक ही तो थे तानसेन! आधुनिक गान-विद्या का प्रमाण तानसेन से ही मिलता है। ध्रुपद को पूर्ण परिणति प्रदान करने का कार्य किसी ने हमारे यहां किया तो वह तानसेन ही थे। तानसेन की कायम की हुई संगीत परंपराएं देशकाल तथा भूगोल की सीमाओं से परे है। अनंत है।

यहां प्रतिदिन संगीत सभाओं में भाग लेते देशभर से आए युवा कलाकारों के गायन, वादन की सृजनात्मकता में संगीत के जादू को निकट से महसूस कर मन में विचार आता है, संगीत सूर्य-रश्मि के समान मुक्त रूप से चारों ओर विकीर्ण होते मन में अवर्णनीय ऊर्जा का संचार करता है। सुखद

यह है कि यहां तानसेन की स्मृति को श्रद्धांजलि स्वरूप नमन करने की प्राचीन शासकों द्वारा प्रारंभ उत्सव परंपरा को उस्ताद अलाउद्दीन खां अकादमी प्रकृष प्रवहमान किए है।

ग्वालियर से मित्र संदीप कुलश्रेष्ठ के कारण एक रिश्ता सा हो गया है। भारतीय पर्यटन एवं यात्रा प्रबंध संस्थान के प्रोफेसर संदीप के आग्रह पर कभी-कभार पर्यटन के विद्यार्थियों को पढ़ाने आना हो जाता है। पर्यटक की दृष्टि से ग्वालियर घूमा भी हूं, किले पर भी गया हूं। गूजरी महल, राजा मानसिंह के महलों में भी गया पर तानसेन समारोह में आकर लगा जैसे इस बार जिस ग्वालियर में आया हूं, वह सर्वथा नया है। यह संगीत नगरी ग्वालियर है। तानसेन समारोह स्थल रोज उत्साह से पहुंच संगीत सभाओं का आस्वाद करता, पर मन कहां भरता! अंतिम दिन समारोह स्थल से दूर पहाड़ी पर दिख रहे ग्वालियर दुर्ग को देख फिर से वहां जाने का मन हुआ।

होटल पहुंचकर संदीप को फोन मिलाता हूं। वह शिकायत करते हैं कि इतने दिन से यहां हो और उन्हें बताया ही नहीं। उनकी शिकायत वाजिब है। संगीत को सुनते और तानसेन को गुनते उनसे मिलने का खयाल ही जेहन में नहीं आया! वह घर आने का कहते हैं परंतु उनके साथ ग्वालियर किले जाने का मंतव्य बताता हूं तो कहते हैं, आप इंतजार करें मैं आधे घंटे में ही आता हूं। थोड़ी देर में वह आ जाते हैं। होटल से बाहर दुर्ग की ओर जाने के लिए उनके साथ निकलता हूं। कार की बजाय वह स्कूटी लेकर आए हैं। कहते हैं, 'इस बार आपको दूसरे रास्ते से किले पर ले जाऊंगा। बाजार में कुछ काम है, उसे निपटाकर हम वहीं चलेंगे।' मैं उनके पीछे बैठ जाता हूं। स्कूटी थोड़ी देर में ही चहल-पहल वाले देशी टाइप के बाजार में पहुंच जाती है। किराने की दुकानों के अलावा ठेलों पर सामान बिक रहा है। संदीप बताते हैं, यह ग्वालियर का उपनगर है-हजीरा। स्थान को जाना-पहचाना देख कहता हूं, अरे! यहीं कहीं पास में ही तो है तानसेन समारोह स्थल। संदीप कहते हैं, इस बार आपको यहीं से ग्वालियर किले की ओर ले जाऊंगा। पर असमंजस में हूं, यहां से कहां होगा उस पहाड़ी का रास्ता जो हमें दुर्ग तक ले जाएगी पर आश्वस्त हूं, संदीप कुछ सोचकर ही इस स्थान से मुझे वहां ले जा रहा है। हजीरा ग्वालियर का पुराना भाग लगता है। ठीक वैसे ही जैसे एक नया शहर और दूसरा पुराना शहर होता है। यह मध्यम और निम्नवर्गीय लोगों की घनी बस्ती है। रोजमर्रा की जरूरतों के सामान को पूरा करने वाला छोटा सा बाजार है यहां। संदीप बाजार से कुछ लेते हैं और फिर से हमारा सफर दुर्ग के लिए प्रारंभ हो जाता है।

थोड़े अंतराल में हम पहाड़ी की ओर जाने वाले रास्ते पर हैं। ढलान किले के ऊपर ले जाती है। ढलान पर रुक देखता हूं, दूर आसमान छूता ग्वालियर दुर्ग दिखायी पड़ रहा है। एकांत में पहाड़ी पर बना! सुदृढ़ पर सुंदर प्राचीर। बड़े-बड़े पाषाण खंडों को एक दूसरे के ऊपर रखकर 'भार संतुलन' विधि से जोड़ निर्मित दुर्ग। देखता हूं, प्राचीर के ऊपर सभी दिशाओं में गुम्बदाकार बुर्जियां बनी है। पर राजा मानसिंह के महल की दीवार के साथ छ वृत्ताकार अट्टालियों की रचना है। कहीं पढ़ा हुआ याद आता है, इब्न बतूता ने भी 1342 ई. में इस दुर्ग पर पहुंच इसके सौन्दर्य की कथा कही है। उनके यात्रा संस्मरण 'रिहला' में है। 'रिहला' अरबी शब्द है। अर्थ है, यात्रा या भ्रमण। किसी के द्वारा वर्णित को पढ़ने के बाद देखे हुए स्थान को फिर से देखने का मन करता है। मेरे साथ यह हर बार होता है। बहुत से स्थानों पर पहले गया हूं परंतु उसके बारे में बहुत कुछ और पढ़ने के बाद फिर से जाने का मन बन जाता है। ग्वालियर दुर्ग पहले जब आया था तब पाषाण सौंदर्य को निहारने

भर की दृष्टि शायद निहित थी पर अब जब इसके इतिहास में बहुत कुछ पढ़ा है तो यह जैसे नए रूप में आंखों के समक्ष उद्घाटित हुआ है।

संदीप के साथ किले पर पहुंच नीचे झांकता हूं। ग्वालियर शहर जैसे अपनी भागम-भाग में गुम है। मन में खयाल आया, अच्छा हुआ यहां आ गया नहीं तो इस गुम में कहीं मेरा भी स्थान होता ही। गुम नहीं हूं इसलिए अपने को जानने, भीतर झांकने को उद्यत हूं।

दुर्ग जैसे पहाड़ पर मढ़ा हुआ है, मुकुट सरीखा। आसमान का नीलापन ही नहीं, पाषाण के कंगूरो पर सजा नीला रंग भी अद्भुत है। शायद यह पहला ऐसा दुर्ग है जिसके पाषाण पर रंगों की यह नीली आभा है। प्राचीर में माला में गूंथी मोतियों सरीखा पंक्तिबद्ध रूप में कंगूरों का अलंकरण। साथ चल रहा संदीप कहता है, 'यह अलंकरण ही इस दुर्ग की शान है। यह कपिशीर्षक है। प्राकार और कंठवारिणी के ऊपर माला में गूंथी हुई मोतियां। भारतीय दुर्गों में इनकी रचना गोल मेहराबदार तथा तोड़ेदार दोनों रूपों में मिलती है। मेसोपोटामिया, ईरान और भारत की प्राचीनकाल में यह लोकप्रिय था। हमारे यहां भरहूत, सांची, मथुरा, बोधगया में भी इस प्रकार का अंकन हुआ है।'

दुर्ग के इस सौंदर्य का आस्वाद करते हुए ही उसके अंदर प्रवेश करते हैं। बाहर से जितना भव्य अंदर उतना ही विशाल और महलों, मंदिरों के सौंदर्य से दीप्त है दुर्ग। इसके निर्माण की बेहद लोकप्रिय किंवदंती यह है कि किसी जमाने में कुंतलपुर या कुतवार के राजा सूर्यसेन ने इसकी स्थापना की थी। कनिंघम ने यहां स्थित सूर्य मंदिर और सूरजकुंड के उत्खनन के आधार पर इस बात की पुष्टि की है। कहते हैं सूर्यसेन असाध्य रोग से पीड़ित था। शिकार करता वह इस इलाके में जब पहुंचा तो उसकी भेंट यहां, जहा दुर्ग बना है उस पहाड़ी पर तपस्यारत ऋषि गालव, जिनका उल्लेख ग्वालियर नाम से भी मिलता है, से हुई। उन्होंने अपने आशीर्वाद से सूर्यसेन को रोगमुक्त किया। बताते हैं, सूर्यसेन ने ही बाद में गालव ऋषि के नाम पर ग्वालियर के किले का निर्माण कराया और जो बस्ती आबाद की उसका नामकरण किया ग्वालिआवर, यही बाद में ग्वालियर हुआ। छठवीं शताब्दी ई. के पूर्व में ग्वालियर एक बार हूणों के प्रभाव में भी आया था। हूण शासन मिहिरकुल के शासनकाल के 15 वें वर्ष का एक अभिलेख ग्वालियर दुर्ग पर स्थित सूर्य मंदिर से भी प्राप्त हुआ है। इसमें 'गोप' नामक पर्वत का उल्लेख है। संभवतः 'गोप' नामक पहाड़ी का ही उपयोग बाद में दुर्ग के रूप में हुआ है। हूणों के बाद लगभग एक शताब्दी तक इस किले पर किसी प्रकार के निर्माण का संकेत नहीं मिलता है।

बहरहाल, ग्वालियर दुर्ग युद्धों और जौहर का भी गवाह रहा है। संदीप जौहरताल ले जाकर जैसे अतीत के गलियारे में ले जाता है। बताता है, 1233 में जब ग्वालियर किले पर मलयवर्मन का शासन था, तब हुआ था यहां जौहर। तब यहां मलयवर्मन का शासन था। मुगल आक्रांता इल्तुतमिश ने किले पर विजय प्राप्त करने के लिए यहां घेराबंदी की। पर किले की मोर्चाबंदी इतनी मजबूत थी कि सुल्तान ग्यारह महीने तक युद्ध करने के बावजूद किले में संध नहीं मार सका। पर किले में तब तक रसद समाप्त हो चुकी थी। और कोई रास्ता नहीं देख दुर्ग में मौजूद स्त्रियों ने राजा और सैनिकों के पास जाकर कहा, 'पहले हमें जु जौहर पारी, तब तुम जुझे कंथ संहारी।' यानी पहले तो हम जौहर करेंगी और फिर तुम युद्ध के लिए प्रस्थान करो। मलयवर्मन ने किले का समर्पण कर दिया और स्वयं रात्रि में यहां से भाग निकला। मध्यप्रदेश के जिला गजेटियर में इसका उल्लेख है। जौहरताल दुर्ग में हुए जौहर की जैसे कहानी कहता है।

हूमायूं से जहांगीर तक मुगल शासकों ने इस दुर्ग को निरंतर अपने शासन में महत्व दिया। कहते हैं जहांगीर और हूमायूं ने तो इस दुर्ग में अपना दरबार तक लगाया। संदीप एक रोचक जानकारी यह भी देता है कि कभी ग्वालियर का यह दुर्ग देश की राजधानी भी रहा है।

राजधानी! मुझे अचरज में पड़ा देख वह इतिहास के पन्ने जैसे मेरे लिए खोल देता है, 'अफगानिस्तान से आए शेर शाह सूरी के बेटे इस्लाम शाह ने कभी इस दुर्ग को अपनी राजधानी बनाया था। शेरशाह सूरी की मृत्यु के बाद 1545 में उसका बेटा जब शासक बना तो उसने अपने प्रधानमंत्री हेमू को दिल्ली का दरोगा बना दिया और खुद ग्वालियर से बैठकर सामरिक योजनाओं का संचालन करने लगा था। ग्वालियर से जारी उसके सिक्के आज भी इसके गवाह हैं।' यह सच है, इस दुर्ग पर शासन की महत्वाकांक्षा हरेक बाहरी आक्रमणकारी की रही है। इसका बड़ा कारण शायद यह भी है कि दक्षिण की ओर के युद्ध अभियानों के लिए कभी यही दुर्ग सुरक्षित ठिकाना माना जाता था। गोपगिरी! पूर्व का जिब्राल्टर भी कहा जाता है ग्वालियर दुर्ग। देशी-विदेशी स्थापत्य कला का एक तरह से संगम है यह। किले में घूमते यहां के युद्ध साक्षी स्मारक इतिहास के रण को ही जीवंत नहीं करते बल्कि महलों में गुजरते जैसे स्वयं हम अतीतमय हो जाते हैं। गुजरी महल, मान महल, शाहजहां महल, जहांगीर महल की दरो-दीवारें इतिहास के सुनहरे पन्नों को जैसे आपसे साक्षात् करते हैं।

महलों में एक खिड़की से दुर्ग के नीचे झांकता हूं। एक शानदार सी बारादरी की भव्य इमारत जैसे चट्टानों में झुलती दिखाई देती है। खड़ी चट्टानों पर खड़े किले से थोड़ा नीचे पर पहाड़ी पर ही पाषाण निर्मित भव्य इमारत। पता चलता है, यह गूजरी महल है। ग्वालियर किले के निचले हिस्से में बना हुआ। राजा मान सिंह की प्रेमिका गूजर रानी निन्नी (मृगनयनी) मुरैना के सांक नदी के किनारे बसे गांव राई में रहती थी। राजा शिकार खेलते कभी निन्नी से मिले और पहली ही मुलाकात में दिल दे बैठे। उन्होंने अपने प्रेम का इजहार जब किया तो गुजरी रानी ने शर्त रख दी कि वह जन्म से जिस राई गांव की सांक नदी का पानी पीती रही है, रानी बनने के बाद आगे भी इसी नदी का पानी पीना चाहती है। राजा मान गए और सांक नदी से ऐतिहासिक दुर्ग तक पाइपलाइन बिछा दी गई। अपनी प्रिय रानी के लिए उन्होंने अलग से एक महल भी बनवाया। यही आज गूजरी महल है। ऐसा कहा जाता है कि महाराजा मान सिंह किले से बाहर निकलते वक्त अंतिम मिलन व दर्शन एवं किले में प्रवेश के वक्त प्रथम मिलन व दर्शन मृगनयनी का ही करते थे। मान महल से एक सुरंग सीधे नीचे गूजरी महल तक आती है। इसी सुरंग के जरिए महाराजा मान सिंह तोमर गूजरी रानी से मिलने आया करते थे।

दुर्ग में विचरते पता ही नहीं चलता, कब दुपहरी सांझ में तब्दील होने जा रही थी।...मान महल के झरोखों, जालियों पर पत्थरों की नक्काशी में ही मन खोया हुआ है। शिल्प का सौंदर्य ही नहीं अतीत से जुड़ी संगीत की स्वरलहरियां भी जैसे यहां मन को आलोकित करने लगी है। उस विशाल कक्ष में हूं जहां कभी राजा मानसिंह की संगीत सभाएं हुआ करती थी। संगीताचार्य, विशारदों की गुणीजन सभाओं के अतीत में प्रवेश करते राजा मानसिंह और रानी मृगनयनी के संगीत प्रेम से विकसित हुए ध्रुपद को भी मन गुनने लगा। ध्रुपद माने नाद ब्रह्म। भारतीय संगीत का मूलाधार। संगीत की तमाम शैलियां इसी से तो उपजी हैं। यह सही है, वैदिक काल से ही इस गान का मूल रहा है पर प्रचलित धारणा यह भी है कि मध्यकाल में ग्वालियर के राजा मानसिंह ने ही ध्रुपद गायन परंपरा को निखारा।

संवारा और उसे वह मुकाम दिया जिसमें इसकी वाणियों का उत्कर्ष हुआ। स्वयं मानसिंह ध्रुपद गाते तो शब्द की अर्थव्याप्ति में वह संगीत का अद्भुत, अपूर्व महल खड़ा करते थे। आलाप, स्थायी और अंतरा में उनका गान सुरों की नहीं स्वरो की यात्रा कराता। उनकी रानी मृगनयनी भी उत्कृष्ट गायिका थी। कहते हैं, रामतनु या तानसेन को वह पुत्रवत मानती। रानी ने ही अपनी शिष्याओं में से एक हुसैनी ब्राह्मणी से तानसेन का विवाह कराया। ....मानसिंह महल में विचरते यही सब कुछ पढ़ा जेहन में कौंध रहा है। मुझे लगता है, यह स्थान इसीलिए मान मंदिर है कि यहां संगीत को मान मिला। भारतीय संगीत का उत्कर्ष हुआ। रागों का गढ़ यहीं से तो हुआ ग्वालियर। मन ध्रुपद, धमार, खयाल, टप्पा, तराना से ही गुंजरित हो रहा है। मान महल में संगीत का अतीत जैसे मन को झंकृत कर रहा है। गुणीजनों का भावपूर्ण स्वर विन्यास और होले-होले आलाप। कवि बिहारी ने तो राग-रंग, संगीत और काव्य में पूर्णरूप से तल्लीन रहने को ही जीवन की चरम सार्थकता बतायी है,

*‘तंत्री-नाद-कवित्त-रस, सरस राग इति रंग!*

*टनबूढ़े, बूढ़े तरे, जे बुड़े सब अंग॥*

राजा मानसिंह और उनकी रानी मृगनयनी के संगीत प्रेम को ही यहां मान महल में आकर यूँ गुन-बुन रहा होता हूँ कि संदीप जैसे खोए मन को जगाता है, ‘यहां नीचे वृत्ताकार कोठरियों में कभी मुगलों के कैदी रखा करते थे। सम्राट औरंगजेब ने अपने भाई मुराद को यहीं कैद किया था। बाद में उसे फांसी दी गई।’ सुनकर मन कुंद हो जाता है। एक सत्ता वह थी जिसने संगीत की विरासत को सहेजा, संवारा और ध्रुपद की महान परंपरा से समाज को संपन्न किया और दूसरी ओर औरंगजेब की वह सत्ता थी जिसने तोड़-फोड़ और कत्लेआम का कहर बरपाया। औरंगजेब नहीं, उसके अंदर का भय उससे यह सब करवाता होगा। भय ही तो रचता है आतंक।...पर संगीत तमाम वर्जनाओं से मुक्त करता अपने होने की तलाश कराता है। यही सब कुछ सोचता हुआ मान महल से बाहर निकल दुर्ग के धैर्य से जैसे जुड़ जाता हूँ। कितना कुछ सहा, देखा है ग्वालियर के इस दुर्ग ने।

...दुर्ग में गुजरी महल के रास्ते से प्रवेश किया था और अब मुख्य प्रवेश द्वार से निकल रहा हूँ। चट्टानों पर उकेरी जैन प्रतिमाओं से साक्षात् होते शिल्पी के सौंदर्य को भी मन ही मन नमन करता हूँ। ...पहाड़ी पर ग्वालियर के मुकुट मानिंद ऐतिहासिक दुर्ग से उतरते कानों में राजा मानसिंह के संगीत प्रेम से गूंथी कथाएं जैसे फिर से गुंजरित है। उन्हीं ने तो ध्रुपद का विकास किया। उसे सजाया, संवारा, और परवान चढ़ाया। उनकी परंपरा को क्या हम वैसे ही सहेजे रख पा रहे हैं? औचक जैसे किसी ने यह सवाल किया है। उतरते हुए मुड़कर दुर्ग की ओर देखता हूँ। मुझे लगा, यह सवाल किसी और ने नहीं पाषाण सज्जित ग्वालियर दुर्ग ने ही किया है। पर मुझ अकिंचन से उसे क्या जवाब मिलता! मैं तो संगीत का अदना सा रसिक हूँ। दुर्ग द्वारा पूछा यह सवाल अपने पाठकों को ही सौंपता हूँ।

होटल पहुंच अब वापसी की तैयारी है। ...तानसेन संगीत समारोह की यादों और रागों के गढ़ ग्वालियर से यह विदा की घड़ी है। ग्वालियर एक्सप्रेस से जयपुर लौट रहा हूँ। मन में संगीत के एकनिष्ठ साधक तानसेन की तान और राजा मानसिंह का मान ग्वालियर दुर्ग दिपदिपा रहा है। आऊंगा लौटकर फिर से आऊंगा।...विदा ग्वालियर। विदा।

## विलायत खान : 'कोई है ...'

नीलाक्ष गुप्त

मूल बांग्ला से अनुवाद उत्पल बैनर्जी

कंठ संगीत के महारथी उस्ताद बड़े गुलाम अली खान के निधन (1968) के बाद से भारतीय यंत्रसंगीत के तीन दिक्पाल ख्याति के शीर्ष पर राज करते रहे हैं। पंडित रविशंकर, उस्ताद अली अकबर खान और उस्ताद विलायत खान। 13 मार्च, 2004 को इन तीनों में सबसे छोटे, उस्ताद विलायत खान ने अपनी आखिरी सांस ली। अन्य दोनों में से पंडित रविशंकर में ही अंत तक पूर्णांग रूप से सितारवादन की क्षमता थोड़ी-बहुत बची थी।

इमदादखानी घराने के धारक और वाहक होते हुए भी विलायत खान ने सितारवादन की नितान्त निजी और अत्यंत उन्नत वादनशैली का प्रवर्तन किया था। इस शैली या बाज को विलायतखानी बाज कहना ही समीचीन होगा। यानी उन्हें केवल उनके पिता उस्ताद इनायत खान या फिर उनके दादा उस्ताद इमदाद खान के सार्थक उत्तराधिकारी भर कहने से काम नहीं चल सकता।

विलायत खान द्वारा अपने बाज की प्रतिष्ठा करने के साथ ही इमदादखानी बाज तथा उसी का उन्नत संस्करण इनायतखानी बाज दोनों ही लुप्त हो गए। और आज मुख्य रूप से दो प्रकार की सितार-शैली या बाज मौजूद हैं- एक शैली विलायत खान की है और दूसरी रविशंकर की। इन दो बाजों के लिए सितार भी दो अलग-अलग तरह के हैं। पुराने नायकी, दो जोड़ी, खरज पंचम, ठाट पंच तथा दो चिकारी वाले सितार आजकल अमूमन सुनाई नहीं देते। आजकल विलायत खान के छह तार वाले गंधार-पंचम सितार और रविशंकर के मंद्र पंचम तथा मंद्र षड्ज के तार वाले सितार ही बनाए और बजाए जाते हैं। हालांकि स्वर्गीय मुश्ताक अली खान साहब के शागिर्द आज भी पुराने 'सेनिया' सितार बजाते हैं, लेकिन उनकी तादाद बहुत कम है।

विलायत खान का बाज उनकी तरह बजाने वाला निश्चित रूप से आज कोई नहीं है लेकिन उनके जाते ही यह बाज खत्म हो जाएगा, कम-अज-कम इसकी फिलहाल कोई आशंका नहीं है। उनके भाई उस्ताद इमरत खान मौजूद हैं, विलायत के बेटे शुजात हैं, इमरत खान के दोनों बेटे निशात और इरशाद हैं और इन सबके ऊपर शाहिद परवेज विद्यमान हैं। विलायत खान के चाचा उस्ताद वाहिद खान के पोते शाहिद परवेज ही विलायतखानी बाज से श्रेष्ठ प्रस्तुतकर्ता हैं। हालांकि वे इस बाज का अपना संस्करण बजाते हैं और खासतौर पर उन्होंने गत बजाने के पद्धति में खासी तब्दीलियां



भी की हैं। इनके अलावा बुधादित्य मुखर्जी भी हैं, जो हस्तकौशल और तान-तोड़ों की चपलता के मामले में एक शीर्षस्थानीय सितार वादक हैं। उनका वादन भी विलायत खान के बाज का ही एक संस्करण है। फिर दिवंगत उस्ताद के भानजे उस्ताद रईस खान भी हैं, जो यह दावा करते हैं कि वे अपने मामा का बाज नहीं बजाते। उनका तो यह कहना है कि उनका बाज उनके पिता बीनकार उस्ताद मोहम्मद खान की देन है। सुनते हैं कि उन्होंने यहां तक कहा है कि उनके मामा भी उन्हीं का बाज बजाते हैं! इसलिए भले ही अब से विलायत खान साहब के स्तर का वादन हमें कैसेट और डिस्क के जरिए ही सुनना पड़ेगा, इसके बावजूद उनके बाज और गंधार-पंचम के सितार को बजाने वाले कुछ बहुत अच्छे कलाकार आज भी मौजूद हैं।

सितार वादन तथा संगीत के क्षेत्र में उस्ताद विलायत खान साहब के अवदान की संक्षिप्त चर्चा आरंभ करने से पहले अन्य दो-एक प्रसंगों का उल्लेख करना उचित होगा। पहली बात यह कि शास्त्रीय संगीत के इतने बड़े कलाकार की मृत्यु की सूचना कोलकाता के तमाम लोगों को समय से नहीं मिल सकी थी। कारण कि ज्यादातर लोगों को 14 तारीख के अखबार में यह खबर मिली ही नहीं थी। मौजूदा लेखक भी उन्हीं में से एक है। अखबार की छपाई को बीच में रोककर शायद इस खबर को लिया गया था। अगले दिन 'द टेलीग्राफ' ने अंदर के पृष्ठ पर एक तस्वीर के साथ मौजूदा लेखक का एक शोक संदेश प्रकाशित किया था।

यह अत्यंत खेदजनक बात है। रात ग्यारह बजे के आसपास उस्ताद का निधन हुआ था। उस रोज भारत-पाकिस्तान के मैच में भारत जीता था और इसलिए जितनी जल्दी हो सके अखबार छापकर बाजार में सबसे पहले भेजने की होड़ लगी थी। इन सबके बीच किसी एक सितारवादक की मृत्यु हुई है इसे लेकर सिर खपाने की क्या जरूरत है? तीसरा विश्वयुद्ध शुरू हो जाए तो भी क्या? प्रचार माध्यमों की इस मानसिकता से देश के सांस्कृतिक क्षरण का परिचय सहज ही मिल जाता है। सचमुच आज हमारी स्थिति बहुत दयनीय हो गई है!

दूसरी बात यह कि भारतीय शास्त्रीय संगीत आज अत्यंत तुच्छ वस्तु हो गई है और इसलिए पत्रकार भी बिना सोच-विचार के गलत तथ्य पेश करने लगे हैं। ज्यादातर अखबारों में कहा गया कि इमदादखानी घराना सम्राट अकबर के जमाने से विद्यमान है। और यह भी छापा गया कि इस घराने की शुरुआत मियां तानसेन से हुई। अकबर और तानसेन के जमाने में उन्नत स्तर का सितार हुआ ही नहीं करता था! इमदाद खान साहब का जन्म 1894 में हुआ था तो फिर उन्होंने सोलहवीं सदी में घराने की शुरुआत किस प्रकार की यह भी समझ पाना संभव नहीं। तमाम अखबार बिना किसी विघ्न-बाधा के, किसी भी दुविधा के बिना भला किस तरह यह सब छाप देते हैं?

### **विलायतखानी बाज**

इमदाद खान और इनायत खान बड़ी-बड़ी सभाओं में माइक्रोफोन के बिना ही बजाया करते थे। ध्वनि विस्तारक यंत्रों के बिना बड़े हॉल में लंबी मीड़ का श्रोताओं के कानों तक पहुंचना संभव नहीं। इसलिए पुराने सितार बाज में दाएं हाथ का काम यानी बोल ही मुख्य वस्तु हुआ करते थे। मीड़ या फिर मीड़-युक्त तान या इकहरी तान आमतौर पर कोई नहीं बजाता था।

इमदाद खान की गतकारी में दाएं हाथ के काम को प्रधानता मिली। लयकारी और तान-तोड़े में वे छह से आठ मिजराब के बोल कमाल की क्षिप्रता के साथ बजाया करते थे। इनायत खान की

गतकारी में भी दायां हाथ ही मुख्य हुआ करता था और उनकी बोलकारी यानी 'दिर दिर' इमदाद खान से भी चपल होती थी। हालांकि उन्होंने कुछ इकहरी तानें भी बजाई हैं यानी जिन तानों में प्रत्येक स्वर के पीछे एक से ज्यादा बोल नहीं होते। इस वजह से ये तानें अनेक स्वरों वाली होती हैं और स्वरों के कैनवस पर दौड़-भाग करती रहती हैं। हालांकि मुरकी युक्त मीड़ का उन्होंने भले ही प्रयोग किया हो लेकिन उनकी सितारवादन की शैली में अनेक स्वरों वाली मीड़ उतनी नहीं हुआ करती थी, जबकि इस तरह की मीड़ का प्रयोग वे सुरबहार के आलाप में बराबर करते रहे। उनके सितार के रेकॉर्डों में तीन-चार स्वरों के मीड़ हमें मिलते हैं और उनकी गतकारी में क्षिप्र इकहरी तानों का प्रयोग अकल्पनीय क्षिप्रतायुक्त 'दिर दिर' तानों के साथ दिखाई देता है। वे गतकारी में तिहाइयों का अनूठा प्रयोग कर गए हैं, जो इमदाद खान के रेकॉर्डों में नहीं मिलती।

जब इनायत खान की मृत्यु हुई तब विलायत दसेक साल के थे। इसके पहले ही आठ साल के विलायत का सितारवादन इनायत खान के रेकॉर्ड के दूसरे भाग में आ चुका था। उस रेकॉर्ड में केवल बाएं की संगत पर बजाई राग तोड़ी में मध्यलय की गतकारी में बचपना जरूर झलकता है लेकिन साथ-ही-साथ अच्छी तालीम और खासा रियाज भी साफ-साफ दिखाई देता है। उस उम्र में ही उन्होंने पिता के साथ इलाहाबाद संगीत सम्मेलन में बजाकर अपनी योग्यता का परिचय दे दिया था। 1940 में निकले कोलंबिया रेकॉर्डों में विलायत ने अपने पिता का बाज ही बजाया है। रिकॉर्डिंग के लिए उन्होंने जिस सितार का उपयोग किया था, वह भी इनायतखानी सितार ही था। इसी के बाद से विलायतखानी बाज की तैयारी की पृष्ठभूमि तैयार होने लगी थी। विलायत अपने पिता की मृत्यु के बाद अपने चाचा उस्ताद वाहिद खान से तालीम लेते रहे। साथ-ही-साथ अपने नाना बंदे हसन और मामा जिंदा हसन से खयाल का प्रशिक्षण लेते रहे। विलायत खान के शिक्षक के रूप में इन दो गायकों का नाम अंकित हुआ है। वे किस स्तर के गायक थे, उनका कौन-सा घराना था यह साफ-साफ पता नहीं चल सका। वे अगर बड़े गायक होते तो उनके नामों का उल्लेख अन्यत्र जरूर मिलता और शायद उनके दो-एक रेकॉर्ड भी मिल जाते।

खैर, इन दोनों की दी हुई तालीम और उस्ताद अब्दुल करीम खान, उस्ताद फैयाज खान, बाद में बड़े गुलाम अली खान और अपने जीजा उस्ताद अमीर खान के गायन के प्रति आसक्ति की वजह से उस्ताद विलायत खान ने सितार में 'गायकी अंग' और 'खयाल अंग' को अपनाया। 'गायकी अंग' शब्द विभ्रान्तिकर है। कारण कि मिजराब और जवा से बजाए जाने वाले शास्त्रीय संगीत के समस्त यंत्रों में आलाप, ध्रुपद तथा धमार, या फिर खयाल एवं तराने की सामग्री का उपयोग हमेशा से होता रहा है। इसलिए प्राचीन वीणा बाज, सुरश्रृंगार बाज, सितार बाज और सरोद बाज सभी को गायकी अंग का कहा जा सकता है। लेकिन विलायत खान केवल परदायुक्त, मिजराब से बजाए जाने वाले यंत्र के तरीके से खयाल की तान या मुरकी बजाकर मुत्मइन नहीं हुए। उन्होंने गले से गाई जाने वाली मुरकी या तान में जो एक अविच्छिन्न सुर की कौंध रह जाती है, उसे भी सितार की आवाज के भीतर ले आने की कोशिश की थी। फलस्वरूप पुराने या ज्यादातर सितारवादक प नि सां बजाने के लिए पहले पंचम के परदे पर बाएं हाथ की तर्जनी रखकर मिजराब पहनी हुई तर्जनी से तार पर आघात करते हैं और फिर उंगली से तार को घिसकर निषाद के परदे तक ले आते हैं। इसके बाद एक बार फिर मिजराब के आघात से निषाद के परदे तक मीड़ खींचकर बजाते हैं।

प नि सां बजाने के लिए विलायत खान पंचम के घाट पर उंगली रखकर तार को दूसरी ओर खींचकर षड़ज तक मीड खींच देंगे। मिजराब के केवल एक आघात से इसे बजाने के लिए विलायत खान बाएं हाथ की दो उंगलियों- तर्जनी और मध्यमा का एक साथ भी उपयोग करते थे। फलस्वरूप गले से गाई गई मीड की ही तरह सारे स्वर एक-दूसरे के साथ सुरों की कौंध से बंधे रहते थे। इस तरह नायकी तार को उंगली के दबाव से बाहर की ओर खींचकर स्वरों के उत्पादन में विलायत खान ने ऐसी निपुणता अर्जित कर ली थी कि मध्य, मध्य-द्रुत तथा द्रुत लय में खयाल अंग की तानें इस प्रकार तार को खींचकर वे अनायास बजाए चले जाते थे। इन तानों में प्रयोजन के हिसाब से एवं समान रूप से वे गमक, मुरकी तथा जमजमा बजाया करते थे। जब वे द्रुत घसीट बजाते तब तर्जनी परदों पर घिसटती हुई धुंधली हो जाती और इस घर्षण के फलस्वरूप स्वर आपस में जुड़ जाते। उनके हाथ की निपुणता सचमुच कमाल की थी। कहना न होगा कि पुराने सितार में इस तरह का वादन संभव नहीं था। इन्होंने वजहों से विलायत खान अपने, इन दिनों बहुलता से उपयोग में लाए जाने वाले, गांधार-पंचम सितार की परिकल्पना करने के लिए बाध्य हुए थे। उन्होंने मूल रूप से जो परिवर्तन किए थे, वे इस प्रकार हैं --

1. नायकी तार के पास वाले जोड़ी के तार को निकाल दिया गया। इसकी वजह से नायकी तार और बचे हुए जोड़ी के बार के बीच में एक व्यवधान पैदा हो गया। नायकी तार के ठीक बाजू में एक तथा तार के ठीक बाजू में एक और जोड़ी होने की वजह से द्रुत तान-तोड़ों के समय दोनों जोड़ियां ज्यादा बजा करती थीं जो नायकी की आवाज को ढांप लेती थीं। नायकी के सबसे पास वाली जोड़ी को निकाल देने की वजह से यह चीज खत्म हो गई तथा दायीं तर्जनी के मिजराब को भी हिलने-डुलने की ज्यादा जगह मिल गई। सितार में नायकी के लिए आमतौर पर दो नंबर गेजवाले तार का प्रयोग किया जाता था। लगातार जबर्दस्त खिचाव को सहन करने तथा कौंध को देर तक धारण करने के हिसाब से विलायत खान ने पांच नंबर गेजवाला पतला तार लगाया। सितार को भी सी-शार्प की पर उन्होंने चढ़ाकर बांधा। तांबे के मंद्र पंचम तार को हटाकर उसकी जगह स्टील का एक तार लगाया। इसे शुद्ध गांधारयुक्त रागों में मध्य सप्तक के गांधार में मिला लिया। इसके फलस्वरूप हुआ यह कि पास वाले ठाट पंचम के तार और मोटे चिकारी के खरज के साथ मिलकर हरेक आघात पर स-ग-प कॉर्ड की मूल हारमनी ध्वनित होने लगी। मध्यम धैवत प्रधान रागों में (जैसे कि रागेश्री एवं बागेश्री) इस गांधार और पंचम के दो तार मध्यम और धैवत में मिला लिए जाते थे। दरबारी कान्हड़ा के मामले में दोनों ही तारों को पंचम में मिलाया जाता था। मियां मल्हार के मामले में भी संभवतः यही होता था। वे जब केदार बजाते तो दोनों तारों को क्रमशः मध्यम और पंचम में मिलाते थे। इन सबको मिलाकर सितार की ध्वनि का ऐसा महात्म्य तैयार हुआ कि कोई अनाड़ी भी एक स्ट्रोक लगाता तो चारों ओर एक अनूठी अनुगूंज बिखर जाती था और ऐसा भ्रम होता था कि विलायत खान बजा रहे हैं क्या!

2. पुराने सितार को माइक्रोफोन की मदद नहीं मिलती थी, इसलिए उसकी तबली (यानी जिस अंश पर सिवारवादक की हथेली और उंगली रहती है) पतली होती थी। तबली जितनी पतली होती है आवाज उतनी ही तेज होती है। जटिल मुरकी, पांच-छह परदे की मीड, मीड-तान तथा गमक-तान आदि को जोर देकर बजाने से ब्रिज पर जबर्दस्त दबाव पड़ता है। और फिर ब्रिज के माध्यम से यह

दबाव तबली पर पड़ने लगता है। इसलिए उन्होंने तबली को भी काफी मोटा और मजबूत बनाया।

3. सितार के ब्रिज में तब्दीलियों की जरूरत महसूस हुई। विलायत खान के मनमाफिक आवाज पैदा करने के लिए ब्रिज के मजबूत और उन्नत होने की जरूरत थी। अन्यथा 'गोल' जवारी अच्छी तरह से कर पाना संभव नहीं होता। तबली के विशेष आकार तथा लंबी मीड़ और जोरदार गमक बजाने की सुविधा के लिए अपेक्षाकृत ऊंचे पाएवाला ब्रिज बनाया गया।

4. तुंबा के साथ सितार के डांड को जहां जोड़ा जाता है, वहां धातु के स्कू कसे गए और ये सब लगाने के लिए खास इंतजाम करने पड़े। अन्यथा दाएं तथा बाएं हाथ के भारी वजनदार खिंचाव और दबाव को सितार के ये हिस्से सहन नहीं कर पाते।

5. सितार के तार सितार के कानों से निकल कर तारगहन नामक एक ब्रिज-जैसी चीज के माध्यम से परदे के ऊपर तक जाते हैं। बाएं हाथ के जबर्दस्त खींचतान को सहन करने के लिए विलायत खान ने इसके आकार में भी कुछ बदलाव किए थे।

6. पीतल की बजाय जर्मन सिलवर नामक धातु से विलायतखानी सितार के घाट अर्थात् परदे को तैयार किया गया। परदों को और भी मोटा किया गया तथा सहज रूप से सुरीली और अमोघ मीड़ को बजाने के लिए इनके आकार में भी विलायत खान ने कुछ तब्दीलियां की थीं।

उस सितार से, निपुण हस्तकौशल तथा असाधारण शिल्पबोध के द्वारा उस्ताद विलायत खान सुरों का ऐसा प्रवाह बहा देते कि लोग बेसाख्ता कह उठते थे- 'सितार गा रहा है'। वे एक स्ट्रोक में अनायास ही पांच-छः स्वरों की मीड़-मुरकी तो बजाते ही थे, वे किसी-किसी स्वर को ऐसे पकड़े रहते कि वह दूर दिगंत के नक्षत्र की तरह मंद-मंद झिलमिल करता अस्त हो जाता, जैसे- प ध नि ... .. प। यह निषाद बहुत देर तक झूले रहता और धीरे-धीरे बिला जाता। जॉन पारेलेस ने न्यूयॉर्क टाइम्स में लिखा था 'He ... invented a technique of bending a note after it was struck, tracing a sonic after image.' इस बिला जाते निषाद का इससे बेहतर चित्रण शायद नहीं हो सकता।

सेनिया जयपुर सितार घराने में एक शताब्दी से सितार की गतकारी, बोलकारी और तान-तोड़ों के उत्कर्ष के प्रयास होते रहे थे। इस घराने से ही सितार के कई घरानों का जन्म हुआ है। जैसे- लखनऊ, काल्पी, ग्वालियर, इन्दौर और सितार का बनारस घराना। जयपुर घराने के तान-तोड़ों के कुछ नमूने हमें मुश्ताक अली खां के वादन में दिखाई देते हैं। उनकी दो-चार तानें निखिल बैनर्जी भी बजाया करते थे। इसके अलावा स्वर्गीय विमल मुखोपाध्याय ने भी जयपुर बाज सीखा था और विलायतखानी बाज के साथ मिलाकर वे जयपुरी तान-तोड़े बजाया करते थे।

विलायतखानी बाज विशेष रूप से तान आदि को छोड़कर कोई भी नहीं बजा पाते थे-- केवल पंडित रविशंकर और उनकी शिष्यों के अलावा। वजह यह थी कि इस बाज में जो कंठसंगीत का संभार जुड़ गया था उसके साथ प्राचीन कम मीड़ वाले तान-तोड़े नितान्त श्रीहीन लगते थे। इसीलिए विमल मुखोपाध्याय-जैसे अच्छी तालीम पाए हुए सितारवादक भी गांधार-पंचम वाला सितार बजाते थे और विलायत खान के बाएं हाथ के करिश्मे का अनुकरण किया करते थे।

इस बाएं हाथ की व्यापक चर्चा, अकल्पनीय संगीतबोध तथा खयाल, ठुमरी, टप्पा और लोकसंगीत का ज्ञान विलायत खान साहब का बीजमंत्र था। इस मंत्र को अहोरात्र साध सकें तो फिर

से विलायत खान और विलायतखानी बाज की सृष्टि हो सकती है। हालांकि हम जानते हैं कि इन सब मामलों में इतिहास की पुनरावृत्ति नहीं होती। जैसे कि फिर से कोई अब्दुल करीम खां या फिर फ़ैयाज खां या बड़े गुलाम अली खां नहीं पैदा हुए। ठीक वैसे ही फिर कोई विलायत खान पैदा नहीं होंगे।

अपने बाएं हाथ की साधना के सिलसिले में विलायत खान ने निश्चित रूप से इनायत और इमदाद खान के दाएं हाथ के रत्नसम्भार की उपेक्षा की थी। इसीलिए विलायतखानी बाज एक सम्पूर्ण एवं सर्वांगसुंदर बाज नहीं बन सका- इसमें द्रुत बोलयुक्त तानों का अभाव है। इस बाज में लयकारी भी समुचित उन्नत अवस्था तक नहीं पहुंच सकी। इन सबसे ऊपर इसमें ताल के वैचिष्य का अभाव भी है। खान साहब मुख्य रूप से तीनताल में ही बजाते थे। लेकिन शाहिद परवेज-जैसे परवर्ती कलाकार विभिन्न तालों में बजा रहे हैं।

फिर परिमिति-बोध के अभाव की वजह से खान साहब किसी-किसी राग को बजाते हुए कई बार अचानक ऐसे बेढब स्वरसंगति का प्रयोग कर डालते थे कि उस पल के लिए राग का स्वरूप ही नष्ट हो जाता था। बाद में यह भी देखने में आया कि कई घरानों में स्वरों का इसी प्रकार प्रयोग किया जाता रहा है और उस नजरिए से देखें तो पता चलता है कि उस्ताद ने गलत नहीं बजाया था। कहना न होगा कि बाद में लोग इस बात को भले ही समझ जाते हों लेकिन महफिल में जो जख्म भरा महौल बन जाता था, वह फिर ठीक नहीं हो पाता था।

जीवन के अंतिम दिनों में उस्ताद तमाम तरह के अविश्वसनीय मनगढ़ंत रागों को विस्तार से बजाकर महफिल को खराब कर देते थे। उनमें से एक स्वरमाला थी -- स रे ग म प ध नि -- जिसे वे कभी 'एक प्रकार का भैरव' कहते, कभी 'मांडू भैरव' तो कभी 'हमीर भैरव' कहते थे। ऐसी महफिलों में उस्तादी और कलाकारी के ही दर्शन होते थे, रागसंगीत का असली रस वहां नहीं मिलता था। इसी प्रकार उनके 'विलायतखानी कान्हड़ा' में दो गांधार, दो धैवत और बाद में दो निषाद हुआ करते थे। इन स्वरों से इस राग का स्वरूप तैयार नहीं होता, वे निश्चित रूप से इस बात को समझते तो थे ही। एक दरबारी-कान्हड़ा सिद्ध उस्ताद इस तरह के अजीब सुर क्यों बजाते थे, समझना मुश्किल है।

### स्वाभिमानी नायक

सामाजिक रूप से विलायत खान स्वाभिमानी, स्पष्टवक्ता और प्रतिष्ठान-विरोधी कलाकार थे। आकाशवाणी के शुरुआती दौर में जब यह नियम बना कि सारे कलाकारों का स्वर-परीक्षण किया जाएगा, यहां तक कि वे भी; जो रेडियो से गा-बजा कर बुजुर्ग हो चुके थे, उनका भी -- उनमें केशरबाई केरकर, ओमकारनाथ ठाकुर प्रमुख थे -- तब विलायतखान अड़ गए। वे बोले, 'इस देश में वे कौन हैं जो इतने बड़े कलाकारों की योग्यता का परीक्षण करेगा? भाड़ में जाए यह नियम, किसी को इसे मानने की जरूरत नहीं है।' इस वजह से उन्हें जीवन भर आकाशवाणी से बजाने का मौका नहीं दिया गया। फिर 1964 में पद्मश्री और 1968 में पद्मविभूषण की उपाधि उन्होंने ठुकरा दी। उन्होंने कहा था, 'सरकार में ऐसा कौन है जो यह तय करेगा कि इस मैं इस खिताब के काबिल हूं या नहीं? संगीत के मामले में वे सभी मूर्ख हैं। अगर पहलवानों की कोई समिति मुझे कोई खिताब देती है तो मैं श्रद्धापूर्वक उसे ग्रहण कर लूंगा। कारण कि वे कम-अज-कम कुश्ती तो जानते हैं। सरकारी

अमला तो कुछ भी नहीं जानता।'

जीवन के अंतिम दिनों में, पंडित रविशंकर को भारतरत्न दिए जाने पर, वे बहुत नाराज हो गए थे। संचार-माध्यमों के प्रतिनिधियों को बुलाकर उन्होंने हर कहीं बहुत ऊटपटांग बातें भी की थीं। हालांकि बड़ी उम्र में उन्होंने संगीत नाटक अकादमी की फेलोशिप ग्रहण की थी।

### श्रेष्ठ वादन

मैंने पिछले पैंतीस वर्षों में किसी और को विलायत खान के स्तर का दरबारी कान्हड़ा बजाते नहीं सुना। वे इस राग में सिद्धहस्त थे। उनके स्तर का पूरिया भी मैंने नहीं सुना। यमन, तिलककामोद, शंकरा, जोग, श्री तथा मारवा राग भी वे कमाल का बजाते थे। ठुमरी की चाल में खमाज, भैरवी, पीलू, मिश्रगारा-जैसे राग भी वे बहुत अच्छा बजाते थे। मुझे यह कहने में कोई दुविधा नहीं कि किसी भी वाद्ययंत्र में ठुमरी का काम उनसे बेहतर कोई और नहीं करके नहीं बता पाता था। उनकी पंजाबी चाल की पहाड़ी या फिर माझखमाज की तुलना केवल बड़े गुलाम अली खान से की जा सकती है। मुझे उनकी बागेश्री सुनने का सौभाग्य नहीं मिला, लेकिन उनके बागेश्री राग के एल.पी. रिकॉर्ड ने इतिहास रच दिया है। उनके खयाल अंग के तानों का सम्भार और उन तानों को पेश करने का ढंग किसी और सितारवादक में नहीं दिख सका। इस मामले में कोई भी सितारवादक उनके समकक्ष नहीं है, केवल विख्यात सरोदवादक उस्ताद अमजद अली खां ही विलायत खान के स्तर के खयाल अंग की तानें पेश कर पाते हैं। विलायत खान की तरह साफ सुरों से भरा हुआ झाला भी बहुत कम लोग बजा पाए।

एक घटना का जिक्र करके मैं लेख का समापन करना चाहता हूँ। किसी एक महफिल में उस्ताद का वादन सुनकर ऐसा लगा था कि अब उनके हाथ की निपुणता छीजने लगी है। उस महफिल की समालोचना करते हुए मैंने लिखा था कि विलायत खान अब अस्ताचल की ओर हैं -- उनके वादन में अब पहले-जैसी निपुणता नहीं रही। समालोचना के प्रकाशित होने के कुछ ही दिनों बाद कलामंदिर में उस्ताद की बैठक हुई। उन्होंने भीमपलासी राग में आलाप और गतकारी पेश की। उस दिन उनका वादन, श्रेष्ठ वादन था। खासी मेहनत के साथ, पूरे मनोयोग से उस्ताद ने उस दिन बजाया था-- उस दिन वे पूरी तरह खामोश ही रहे। इसके पहले वाली बैठक में उन्होंने खूब बातें की थीं और वादन के मुकाबले गायन अधिक पेश किया था।

इस बार शुरुआत में केवल इतना बोले -- 'मैं भीमपलासी बजाऊंगा।' बस, इसके बाद उनके मुंह पर ताला लग गया। वे तान के समय लगातार अत्यंत उच्चकोटि की तथा कठिन तानें बजाते रहे। उन तानों को सुनकर इस समालोचक की आफत हो गई-- पिछले दस वर्षों में उन्हें कभी इस तरह तानें बजाते नहीं सुना था। फिर आखिर में उन्होंने एक बार मुंह खोला। बोले, 'विलायत खान मरे नहीं हैं!' फिर झाले के समय प्रधानुसार हर लय के द्वार पर शुरू और आखिर में असाधारण सुर और समता के साथ साफ-साफ चार स्ट्रोक वाले 'दा रा रा रा' बोल बजाने लगे। लय के शिखर पर पहुंच जाने के बाद भी झाले की महत्ता कम न हुई। अंत में उन्होंने एक बार फिर से मुंह खोला, बोले, 'विलायत खान खतम नहीं हुए हैं। कोई है? है कोई?'

(साभार : 'देश' पत्रिका, वर्ष 2004 अंक)

## 21वीं सदी : हिंदी की रिनेसॉन्स सदी...?

### किशोर वासवानी

विशेषकर, ज्ञान, तर्क एवं व्यावहारिकता के संदर्भों में 21वीं सदी तटस्थ-विमर्श की सदी है। आज, प्रत्येक क्षेत्र के ज्ञानानुशासनों पर उनकी व्यावहारिकता एवं अनुप्रयोगिता के आधार पर प्रश्न उठ रहे हैं। 21वीं सदी की मांग है कि ज्ञान केवल सूचनात्मक न होकर व्यावहारिक एवं रोजगारोन्मुख भी हो। आज हम वैश्विक-ग्राम का एक हिस्सा हैं, अतः हमें हिंदी को लेकर, इसके व्यावहारिक, रोजगारोन्मुख एवं व्यवस्था-मानकों को ध्यान में रखकर देखना होगा कि हम, वैश्विक प्रतियोगिता में अपना सम्मानजनक स्थान कैसे बना सकते हैं? साथ ही हमारे शासकीय-शैक्षणिक तथा निजी संस्थान इस दिशा में क्या कर रहे हैं?

हम कहां खड़े हैं....?

आज, जब हम अपने को वैश्विक-ग्राम के एक प्रभावशाली सदस्य के रूप में देखना चाहते हैं तो हमें यह भी जानना और देखना होगा कि 1. शैक्षणिक-संस्थाओं (विश्वविद्यालय आदि) के वैश्विक-श्रेणीक्रम (Ranking) के मानकों को निर्धारित करने वाली कौन-सी संस्था है एवं वैश्विक स्तर पर इस वैश्विक-श्रेणीक्रम/मानकीकरण को लेकर क्या विमर्श चल रहा है? 2. इस मानकीकरण के संदर्भ में, ज्ञान प्रदान करने वाली हमारी शैक्षणिक-संस्थाएं (विश्वविद्यालय आदि), वैश्विक-श्रेणीक्रम (Ranking) के आधार पर कहां खड़ी हैं? 3. हमारे देश में, इस वैश्विक-श्रेणीक्रम/मानकीकरण को किस तरह लिया गया है? 4. उसके पश्चात हम यह भी समझेंगे कि इस श्रेणीक्रम निर्धारण के वैश्विक-शैक्षणिक-मानकों के आधार-मुद्दे क्या हैं?

विमर्श और मनन- 21वीं सदी : हिंदी की रिनेसॉन्स सदी? के संदर्भ में हमें, हिंदी को लेकर, गंभीरता से यह विचारना होगा कि :- (क) हम, ऊपर बताए गए मानकों पर कितने खरे उतरते हैं? एवं (ख) इन परिस्थितियों में, विश्लेषणात्मक विमर्श के बाद मनन करना होगा कि, इस दिशा में और क्या किया जाना चाहिए?

1. वैसे तो वैश्विक स्तर पर सन 1900 से ही विश्वविद्यालयों के श्रेणीक्रम का काम गंभीरता से आरंभ हो गया था। चूंकि, अब पूरे विश्व में शिक्षा एक उद्योग के रूप में काम कर रही है परिणामस्वरूप, अंतरराष्ट्रीय स्तर पर हर विधा की शिक्षा काफी खर्चीली साबित हो रही है ऐसे में शिक्षा-माफियाओं ने यहां भी अपना काम करना शुरू कर दिया। वैश्विक स्तर पर कई नकली विश्वविद्यालयों ने अपना काम करना आरंभ कर दिया। कई लोग उनकी चपेट में आ गए। अंततः,

उनका भांडा फूटा। यूनेस्को भी सजग हुआ। इसके बाद यूनेस्को ने Formation of the World University Ranking Survey जैसा काम आरंभ किया; साथ ही, स्तरीय/अंतरराष्ट्रीय- मानक संस्थाओं द्वारा किए गए उनके वैश्विक-श्रेणीक्रम-प्रकाशन के प्रति भी जागरूक रहने की सलाह देते हुए अपने, "Rankings and Accountability in Higher Education: Uses and Misuses" जैसे प्रकाशन द्वारा सूचित किया कि लगभग 16,000 उच्चतम शिक्षा संस्थानों में से 100 के आसपास उच्चतम शिक्षा संस्थानों के श्रेणीक्रम को ही सामने लाया जाता है, और उसका आधार भी अधिकतर उपयोगितावाद पर आधारित होकर मुनाफे पर केंद्रित है, उनका ध्यान अर्थपूर्ण (Meaningful) मुद्दों की ओर उतना नहीं जाता '---While rankings do not measure what is meaningful about the quality of higher education, they have drawn our attention to the importance of good quality comparative information about performance and productivity, value for money and return on public investment. (गूगल से साभार)

2. अंतरराष्ट्रीय स्तर पर, विश्वविद्यालयों के श्रेणीक्रम का निर्धारण करने वाली मानक एवं मान्यता प्राप्त संस्था "QS Quacquarelli Symonds Limited, London" प्रतिवर्ष लगभग 800 वैश्विक-विश्वविद्यालयों के श्रेणीक्रम का निर्धारण करती है। वर्तमान संदर्भों में, इनमें हम कहां हैं? विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के आंकड़ों के अनुसार, हमारे देश में लगभग 677 विश्वविद्यालय, 37,202 महाविद्यालय हैं; परंतु आश्चर्य एवं खेद का विषय है कि इनमें से हमारा एक भी विश्वविद्यालय, विश्व के बढ़िया 200 श्रेणीक्रम में नहीं आता (टाइम्स ऑफ इंडिया-16.9.2013/22/9/1914)। एशिया के विश्वविद्यालयों में जे.एन.यू. जैसा हमारा स्टा र विश्वविद्यालय भी रैंकिंग के 96 स्थान पर ही है।

3. इस दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति पर खेद व्यक्त करते हुए हमारे माननीय राष्ट्रपति एवं केन्द्रीय विश्वविद्यालयों के कुलाध्यक्ष (विजिटर) श्री प्रणब मुखर्जी ने पांडिचेरी विश्वविद्यालय के दीक्षांत समारोह में व्याकुल होकर कहा :- "It is a sad reflection on us when the universal rankings of universities comes out" (+), इसी संदर्भ में, इसके पूर्व, भारत के तत्कालीन प्रधानमंत्री माननीय श्री मनमोहन सिंह ने भी चिंतित होकर कहा था:- "It is a sobering thought not one Indian university figures in the top-200 universities of the world today '(++) :- (+), (++) :- News Item : 'Indian universities still lag in world rankings' (DNA, 28.11.2013, Ahmedabad issue, pg. 9)

4. इस संदर्भ में, जागरूक शिक्षाविद् यह जानना चाहेंगे कि वैश्विक स्तर पर इस स्थान (श्रेणीक्रम)-निर्धारण के, वैश्विक-शैक्षणिक-मानकों के आधार-मुद्दे क्या हैं? गूगल पर [www.topuniversities.com/qs-stars/qs-stars-methodology](http://www.topuniversities.com/qs-stars/qs-stars-methodology). साइट पर, जाने से 'QS Stars; Methodology' नामक शीर्षक के अंतर्गत जो प्राधिकृत जानकारी प्राप्त होती है, तदनुसार वैश्विक-शैक्षणिक-मानकों के आधार-मुद्दों के साथ-साथ, विश्वविद्यालयों के श्रेणीक्रम-निर्धारण के मानदंडों पर टिप्पणी करते हुए, यहां दिए जा रहे श्रेणीक्रम-निर्धारक मानकों को इंगित किया गया है :-

अनुसंधान/शोध (Research) श्रेणीक्रम-निर्धारक मानकों में, विश्वविद्यालय द्वारा करवाए गए



शोध का स्तर, उसकी गुणवत्ता, नवीनता, प्रयोजनमूलकता, कथित विषय पर, अंतरराष्ट्रीय दर्जे के प्रकाशनों में उसके प्रकाशन, एवं शोध पर मिले विश्व-स्तर के पुरस्कार आदि को ध्यान में रखकर परखा जाता है।

### **अध्यापन/शिक्षण (Teaching) शिक्षक एवं विद्यार्थी**

आज के अध्यापन का उद्देश्य केवल सैद्धांतिक रटंत-सूचना देना न हो, अपितु उत्कृष्ट विचारों वाले उन मस्तिष्कों को पोषित करना हो जो मानवीय जीवन की पेचीदगियों का सफलता से सामना कर सकें एवं अपने अनमोल अनुसंधान द्वारा आने वाली पीढ़ी का मार्गदर्शन कर सकें। शिक्षा केवल आदर्शोन्मुख न होकर व्यावहारिकता पर आधारित हो। आज शिक्षण काफी खर्चीला होकर एक उद्योग बन गया है अतः आज के संदर्भों में विद्यार्थी, विद्यार्थी न होकर एक उपभोक्ता (Consumer) के रूप में हमारे सामने आता है। अब वह मात्र श्रोता नहीं है इसलिए एक उपभोक्ता रूप में वह, अध्यापक के सामने उसे दिए जा रहे ज्ञान की उपयोगिता को लेकर सीधे विमर्शी प्रश्न खड़े करता है। उसी प्रकार अध्यापक, एक अध्यापक न होकर एक शिक्षण-संप्रेषक (Teaching & Communicator) है, जिसका काम मात्र 'पढ़ाना' न होकर संप्रेषित (Communicate) करना है। वैसे भी पढ़ाना (to Teach) क्रिया में धमकाने का भाव (हिंदी/अंग्रेजी, दोनों में, मुहावरे के रूप में) ज्यादा है, यथापाठ पढ़ाना 'To Teach Lesson' परंतु संप्रेषण में धमकाने का भाव (हिंदी/अंग्रेजी, दोनों में) न होकर, बराबरी के स्तर (पद) पर पाठ-सामग्री के भाव को उपभोक्ता (विद्यार्थी) तक एक व्याख्या/विमर्श के साथ 'पहुंचाना' (संप्रेषित करना) है। फलस्वरूप, संप्रेषक (शिक्षक) एवं उपभोक्ता (विद्यार्थी) के बीच एक परिपक्व समझ के साथ मित्रता/सौहार्द का भाव स्थापित हो जाता है, जो विशेषकर, आज के संदर्भों में, मनोवैज्ञानिक स्तर पर काफी उपयोगी सिद्ध होता है।

चूंकि आज का उपभोक्ता-विद्यार्थी कई प्रोफेशनल-टेस्ट (लिखित-मौखिक आदि) परीक्षणों से गुजरकर किसी पाठ्यक्रम में प्रवेश पाता है अतः उसके संप्रेषक-अध्यापक का भी प्रोफेशनल रूप से उत्कृष्ट होना जरूरी है, परिणामस्वरूप उनके लिए भी समय-समय पर आधुनिक ढंग से पुनश्चर्या-पाठ्यक्रम चलाए जाते हैं। वैश्विक-श्रेणीक्रम-निर्धारक मानकों में इस तरह की व्यवस्था को भी गंभीरता से देखा जा रहा है।

### **रोजगारोन्मुखता (Employability)**

ज्ञान/अधिगम प्राप्ति के पीछे जो उद्देश्य काम करते हैं, उनमें, विशेषकर, आज के संदर्भों में, ज्ञान-प्राप्ति की रोजगारोन्मुखता को लेकर सीधे और व्यावहारिक प्रश्न उठाए जा रहे हैं। जैसा कि यहां इंगित किया जा चुका है कि अब पूरे विश्व में शिक्षा एक उद्योग के रूप में काम कर रही है और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर हर विधा की शिक्षा काफी खर्चीली साबित हो रही है, ऐसे में शिक्षा पर जो राशि लगा रहे हैं उसकी भरपाई हो, इसका पूरा ध्यान रखा जा रहा है। अतः अभिभावक बच्चों को उस पाठ्यक्रम में डालना चाहते हैं, जिसकी डिग्री लेने के बाद बच्चों को आसानी से रोजगार मिल सके। 21वीं सदी के वैश्विक ग्राम में, जागरूक वि.वि./संस्थान, मांग और सर्वेक्षण के आधार पर, उपग्रह निर्माण से लेकर ब्यूटी-पार्लर/किचन-कला/घर-सजावट/जिल्दसाजी/दृश्य-श्रव्य कार्यक्रम-निर्माण/फैशन-उद्योग/डिजाइनिंग आदि जैसे अनगिनत कौशल-आधारित, दीर्घ/अल्पकालीन पाठ्यक्रम, अलग-अलग भाषा माध्यमों के द्वारा सफलता-पूर्वक चला रहे हैं। यहां, भाषाओं को भी विभिन्न

कौशलों को ध्यान में रखकर उसकी प्रयोजनमूलकता के आधार पर, एक उपकरण (Tool) के रूप में, पढ़ाया जाता है। वैश्विक-रैंकिंग टीम, प्रस्तुत पाठ्यक्रमों का, उसके व्यावहारिक परियोजना कार्यों के साथ अध्यापन (सम्प्रेषण) के तरीकों के आधार पर, अवलोकन करती है।

### **सुविधाएं-आधारभूत-संसाधन (Facilities&Fundamental Resources)**

आज बढ़िया वैश्विक-रैंकिंग इस बात पर भी निर्भर करती है कि कोई वि.वि. अपने उपभोक्ता-विद्यार्थी, संप्रेषक-अध्यापक, कर्मचारियों को किस प्रकार की आधुनिक-भौतिक (स्मार्ट-क्लास, स्वास्थ्यकर-कैंटीन, स्टाफ-रूम, ज्ञान के सभी क्षेत्रों से संबंधित देश-विदेश की पुस्तकों-पत्रिकाओं से युक्त आधुनिक-पुस्तकालय वाचनालय, सामग्री के दृश्य-श्रव्य वाचन/अवलोकन व्यवस्था के साथ, सेमिनार-हॉल, हॉस्टल, उद्यान, खेल, सामाजिक-गतिविधि केंद्र, चिकित्सा, आदि), पाठ्यधारित दृश्य-श्रव्य सामग्री निर्माण/प्रशिक्षण हेतु स्टूडियो जैसी- सुविधाएं उपलब्ध करवाने के साथ-साथ, शैक्षणिक-विमर्शी माहौल/कार्यक्रम, विभिन्न पाठ्यक्रमों से संबंधित रोजगार-उपलब्ध करवाने हेतु मार्गदर्शन-केंद्र आदि संचालित करता है।

इक्कीसवीं सदी के प्रथम दशक में, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा में भवन-शिलान्यास समारोह में भारत के तत्कालीन गृहमंत्री माननीय शिवराज पाटिल ने ऑक्सफोर्ड और केंब्रिज विवि के भवनों का हवाला देते हुए कहा था कि किस प्रकार किसी विवि के व्यक्तित्व की पहचान उसके भवनों के द्वारा भी होती है। जाहिर है, उन्होंने यह बात विवि के आधारभूत-संसाधनों की महत्ता के संदर्भ में कही थी।

### **अंतरराष्ट्रीय पहचान (Internationalization)**

वैश्विक-ग्राम में हर व्यवस्था अपनी अंतरराष्ट्रीय पहचान बनाकर चलती है। हर देश का स्तरीय विवि. अपनी अंतरराष्ट्रीय आकर्षक छवि बनाए रखना चाहता है। ऐसे में जरूरी है कि उसके यहां देश-विदेश के विद्यार्थी एवं अध्यापक वर्ग हो।

वर्तमान समय की मांग के अनुसार उनके प्रयोजनमूलक पाठ्यक्रम हों। साथ ही कथित विवि. के, विश्व के अन्य स्तरीय विश्वविद्यालयों के साथ कितने साझा कार्यक्रम चल रहे हैं? साथ ही उसके पास-आउट उपाधिधारियों को वैश्विक स्तर पर कितनी पहचान एवं रोजगार के अवसर मिल रहे हैं।

### **नवप्रवर्तन (Innovation)**

नवप्रवर्तन के संदर्भ में रैंकिंग का मानक इस बात पर तय होता है कि किसी विवि. द्वारा प्रदान किए जा रहे ज्ञान अथवा शोध-कार्य, देश-विदेश की आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक-व्यवस्थाओं एवं अन्य विश्वविद्यालयों के अकादमिक-कार्यक्रमों के साथ किस तरह तालमेल बिठा रहे हैं। भूमंडलीकरण के दौर में इसका काफी महत्व है।

### **क्रियाकलाप (Engagement)**

वैश्विक-ग्राम के संदर्भ में, रैंकिंग देते समय यह भी देखा जाता है किसी विवि. के क्रियाकलापों का प्रभाव, विशेष रूप से स्थानीय, एवं सामान्य रूप से देश-विदेश के समुदायों पर कितना और किस तरह पड़ता रहा है?

### **सुगम-पहुंच (Accessibility) :**

आज शिक्षा एक उद्योग बनकर काफी खर्चीली हो गई है, अतः किसी विवि. का बढ़िया रैंकिंग

पाना इस बात पर भी निर्भर करता है कि वहां बिना किसी लिंग, जाति, समुदाय के भेदभाव के प्रवेश लिया जा सकता है एवं आर्थिक रूप से जरूरतमंद विद्यार्थियों को वजीफे एवं स्कॉलरशिप का लाभ मिल सकता है। उद्देश्य है आधिक से अधिक लोगों तक ज्ञान पहुंचाना।

### विमर्श और मनन-21वीं सदी : हिंदी की रिनेसॉन्स सदी?

हमें, हिंदी को लेकर, गंभीरता से यह विचारना होगा कि:- (क) हम, वैश्विक मानकों पर कितने खरे उतरते हैं? एवं (ख) इन परिस्थितियों में, विश्लेषणात्मक विमर्श के बाद मनन करना होगा कि, इस दिशा में और क्या किया जाना चाहिए?

(क) वैश्विक मानकों पर हम कितने खरे उतरे हैं? जाहिर है, जब अंतरराष्ट्रीय स्तर पर हमारा एक भी विश्वविद्यालय वैश्विक मानकों के आधार पर, बढ़िया 200 विश्वविद्यालयों की सूची में नहीं आ पाया तो, यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे विश्वविद्यालय, अनुसंधान/शोध, अध्यापन/शिक्षण (Teaching) शिक्षक एवं विद्यार्थी, रोजगारोन्मुखता, सुविधाएं-आधारभूत-संसाधन, अंतरराष्ट्रीय पहचान, नवप्रवर्तन, क्रियाकलाप, सुगम-पहुंच जैसे आधारभूत मानकों पर पूर्णरूपेण खरे नहीं उतरे हैं। उसमें भी, हमारे विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी, विज्ञान, सूचना प्रौद्योगिकी जैसे विभागों की तुलना में हिंदी-विभागों की दशा लगभग हर स्तर पर (संसाधनों से लेकर शैक्षणिक सुविधाओं तक) बड़ी दयनीय है। यहां भी, राज्य एवं केंद्र स्तर के विश्वविद्यालयों के हिंदी विभागों में, संसाधनों को लेकर असंतुलन एवं भेद-भाव की स्थिति स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है।

(ख) आइए, विश्लेषणात्मक विमर्श के बाद देखें कि, इस दिशा में और क्या किया जाना चाहिए? इस दिशा में सामान्य रूप से दो स्तरों पर कार्य करना होगा; (1) अंतरराष्ट्रीय स्तर जैसी आधुनिक-भौतिक सुविधाएं और आधारभूत शैक्षणिक-संसाधन एवं (2) शैक्षणिक पक्ष।

#### 1. सुविधाएं-आधारभूत-संसाधन

फिर भी, संक्षेप में कह सकते हैं कि शायद हम, अंतरराष्ट्रीय स्तर जैसी सभी आधुनिक भौतिक सुविधाएं शतप्रतिशत न दे पाएं, परंतु इतना तो हम अवश्य करें कि अन्य आधारभूत अच्छी सुविधाओं के साथ ही हमारे क्लास-रूम दृश्य-श्रव्य सुविधाओं से लैस हों, उनके, प्रचालन एवं रखरखाव की अच्छी व्यवस्था हो। आधुनिक-प्रबंधन/दृश्य-श्रव्य सुविधाओं के साथ सेमिनार-हाल, गेस्ट-हाउस, हॉस्टल के साथ-साथ, स्टाफ एवं विद्यार्थियों के लिए, प्रतिदिन, कम से कम 15 घंटे स्व-प्रचालन सुविधाओं के साथ डिजिटल-युक्त दृश्य-श्रव्य पुस्तकालय हो, जिसमें अनेक विधाओं की अद्यतन दृश्य-श्रव्य सामग्री, नियमानुसार डाउन-लोड/प्रिंट सुविधा के साथ, उपलब्ध हो। कैम्पस में, वैचारिक-विमर्श हेतु अनौपचारिक-स्थल/पार्क जैसी जगहें हों।

#### 2. शैक्षणिक पक्ष

इस दिशा में विशेष विमर्श की आवश्यकता है। मुख्य रूप से, भाषिक-संरचनात्मक-शैक्षणिक-तकनीक/कौशल (Language-Structural Pedagogy/Skills) यथा: 'सुनना-बोलना-भाषा को मूर्त रूप में दिखाना', पढ़ना-लिखना, भाषा के कार्यान्वयन/क्रियाकलाप को देखना एवं मनो-व्यवहार विज्ञान (Human n` Behavioral Science) से जुड़े भाषिक-संदेश संप्रेषण को, भाषा-प्रयोक्ता के मंतव्य के साथ समझना; जैसे मुद्दों से जोड़कर, 21वीं सदी की आवश्यकता के अनुसार, हिंदी शिक्षण/अधिगम (Learning) के संदर्भों में, प्रयोजनमूलकता के आधार पर, पाठ्यक्रमों/कार्यक्रमों पर

विचार करना होगा। चूंकि इस तरह के पाठ्यक्रम/कार्यक्रम, तकनीक/कौशल पर आधारित होंगे, अतः सामान्य रूप से, विश्वविद्यालय/संस्थान को आवश्यकतानुसार, इन्हें स्वतंत्र रूप से अथवा संबंधित संस्थानों के सहयोग/समन्वय से, विषय-विशेषज्ञ के साथ मिलकर, पाठ्यक्रम-अवधि के अनुसार पाठ्यक्रम डिजाइन कर, चलाना होगा। इसके लिए, प्रयोजनमूलकता के आधार पर तकनीकी-शब्दावली, हिंदी वाक्य विन्यास आदि का शैक्षणिक-बिंदुओं के आधार पर, लिखित एवं दृश्य-श्रव्य सामग्री के रूप में चयन/निर्माण/अनुवाद कर चलना होगा।

आइए, कौशल के आधार पर इनके संभावित शैक्षणिक पक्षों पर विचार करें :-

#### **सुनना-बोलना-भाषा को मूर्त रूप में दिखाना**

विज्ञान एवं तकनीकी विकास ने, भाषिक कौशल के आधार पर भाषा प्रयोग के कई व्यावहारिक/रोजगारोन्मुख औद्योगिक क्षेत्र खोल दिए हैं; यथा :

**पर्यटन-उद्योग :-** आज, देश-विदेश के स्तर पर पर्यटन-उद्योग काफी फल-फूल रहा है। मध्य-वर्ग इस दिशा में काफी आगे आया है। यह वर्ग कंडक्ट-टूर में, समूह में यात्रा करता है। इस लेख के लेखक द्वारा प्राधिकृत रूप से ऐसा देखा गया है कि इस तरह की यात्राओं में, भारत के बहुभाषी पर्यटक, देश-विदेश में अपने गाइड से हिंदी में ही जानकारी देने का आग्रह करते हैं। जाहिर है, गाइड का काम मुख्य रूप से सुनने-बोलने और स्थलों को दिखाने का है ; कभी-कभी उसे चलते वाहन में, छोटे-मोटे इंडोर मनोरंजनात्मक कार्यक्रमों (क्विज, अंताक्षरी आदि) का भी संचालन करना होता है। यहां, भाषा के ये तीनों कौशल अपनी अहम भूमिका निभाते हैं। गाइड को इन तीनों कौशलों पर महारत हासिल होनी चाहिए। अपने विषय (यहां इतिहास, कला, भारतीय सामासिक संस्कृति-धर्म आदि) के प्रभावशाली संप्रेषण के लिए भाषिक-स्तर पर इन तीनों कौशलों पर अधिकार होना जरूरी है। सुनने-समझने, संवाद करने एवं दृश्य-श्रव्य भाषा में दृश्यात्मक शैली में पर्यटन-स्थल की विशेषताओं का सरल हिंदी-भाषिक-प्रयुक्त (हिंदुस्तानी-हिंग्लिश) के साथ मनोरंजनात्मक वार्तालाप ढंग से, वर्णन करना एक तकनीकी कार्य है। इसकी काफी मांग है। गाइड यहां-वहां से आधा तीतर-आधा बटेर लेकर काम चला रहे हैं। वे इस क्षेत्र में विधिवत प्रशिक्षण एवं ऐतिहासिक, सांस्कृतिक-धार्मिक, प्राकृतिक, व्यापारिक आदि स्थलों पर हिंदुस्तानी-हिंग्लिश में आकर्षक ढंग में दृश्य-श्रव्य सामग्री चाहते हैं। परंतु, हमारी हिंदी शिक्षा-व्यवस्था इस ओर से उदासीन है।

**खेल-उद्योग :-** जनसंचार साधनों में आई क्रांति ने हिंदी खेल-भाषिक-प्रयुक्त क्षेत्र में नए द्वार खोल दिए हैं। विशेषकर राष्ट्रीय/अंतरराष्ट्रीय स्तर की क्रिकेट/हॉकी एवं अन्य खेल प्रतियोगिताओं के माध्यम से, अरबों रुपयों का व्यापार होता है। दृश्य-श्रव्य जनसंचार माध्यमों द्वारा इन खेलों की हिंदी-कमेंट्री (आंखों देखा हाल) काफी बड़ी संख्या में सुनी और पसंद की जाती है; जिससे जहां, सरकार को करोड़ों रुपयों का राजस्व प्राप्त होता है, वहीं, विज्ञापनों (जिनमें हिंदी विज्ञापनों की संख्या अधिक होती है) द्वारा भी सैकड़ों चैनलों को काफी आय होती है। यहां भी, हिंदी के हिंदुस्तानी-हिंग्लिश भाषिक रूप का प्रचलन अधिक है; परंतु, भाषायी शुद्धता जैसी नासमझी को लेकर मौखिक संप्रेषण को लेकर हिंदुस्तानी-हिंग्लिश के भाषिक रूप को सही दिशा नहीं मिल पायी है। सटीक शब्द भंडार, प्रभावशाली उच्चारण, अनुतान, गति (खेल की स्पीड) आदि को ध्यान में रखकर तकनीकी-प्रशिक्षण (दृश्य-श्रव्य भाषा-प्रयोगशाला की मदद से हिंदी-कमेंट्री अभ्यास आधारित लघु पाठ्यक्रम) देने की

नितांत आवश्यकता है। विशेषकर श्रव्य माध्यम द्वारा इस तरह की प्रतियोगिताओं का आंखों देखा हाल बिना तकनीकी-प्रशिक्षण (दृश्यात्मक भाषा-शैली में दिखाना) सुनाना/दिखाना, कठिनतर कार्य है।

**मार्केटिंग :-** कई व्यापारिक संस्थानों में प्रस्तुत मुद्दा जन-संपर्क (PR) के रूप में आता था, परंतु अब इसे मार्केटिंग (विपणन) के रूप में लिया जाता है। ज्ञातव्य है, कई नामी व्यावसायिक पाठ्यक्रमों (बीबीए/एमबीए आदि) में मार्केटिंग-कौशल को प्रमुखता से लिया जाता है। मार्केटिंग-कौशल की आत्मा संप्रेषणीय-भाषा है। विक्रेता को अपनी जिंस को, चाहे वह किसी ठोस (वस्तु), पॉलिसी/योजना अथवा किसी इमेज (साख/व्यक्तित्व) के रूप में हो, प्रमुख रूप से किसी भाषाई-उपकरण के माध्यम से ही बेचना/खपाना होता है, भले ही उसमें दृश्य-श्रव्य माध्यम, पर्चे/बुकलेट/ वीडियो-प्रस्तुति आदि भी शामिल हों। जो विक्रेता अपने उपभोक्ता के सामने, अपनी जिंस (वस्तु) को जितने प्रभावशाली ढंग से, संप्रेषणीय-भाषा में दृश्य-श्रव्य माध्यम द्वारा रखेगा, वह मार्केटिंग जगत में उतना ही कामयाब होगा रखेगा। इसके लिए उसे, अपने उपभोक्ता की आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक-धार्मिक स्थिति को ध्यान में रखकर, विशेष संप्रेषणीय भाषाई-प्रकार, स्तर आदि का निर्धारण कर अपनी जिंस की खासियतों को प्रभावशाली ढंग से रखना होगा। साथ ही उसे, अपनी जिंस (वस्तु) की उपयोगिता/श्रेष्ठता/तुलनात्मक रूप से उसके कम मूल्य/दाम आदि से संबंधित शब्दावली/वाक्य विन्यास/सरल-मनोरंजक शैली आदि का अच्छा ज्ञान होना चाहिए।

**दृश्य-श्रव्य-उद्योग/कार्यक्षेत्र (A.V. Domain):-** यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि 21वीं सदी दृश्य-श्रव्य उद्योग/कार्यक्षेत्र एवं संप्रेषण को लेकर क्रान्ति की सदी है। हिंदी को लेकर इस क्षेत्र में अपार संभावनाएं हैं। इस क्षेत्र में हिंदी ने अपनी आर्थिक एवं अपनी युवा हिंदुस्तानी-हिंग्लिश भाषाई क्षमता को बखूबी सिद्ध किया है। हमारा पूरा दृश्य-श्रव्य जनसंचार उद्योग हिंदुस्तानी-हिंग्लिश के बल पर फल-फूल रहा है और भारत सरकार को अरबों रुपये का राजस्व कमाकर दे रहा है। केवल हिंदी फिल्मों से ही लगभग 2000 करोड़ रुपयों का राजस्व प्रतिवर्ष भारत सरकार को प्राप्त होता है। वैसे ही दूरदर्शन के सैकड़ों चैनल हैं जो रात-दिन इसी हिंदी में कमाऊ-कार्यक्रम दे रहे हैं। इनमें; समाचार-वाचन, डबिंग, कॉपी-राइटिंग, एंकरिंग, कहानी-पटकथा-वाचन, वार्तालाप/चर्चा/संवाद-अदायगी आदि का वह रूप शामिल है जो केवल हिंदी के दृश्य-श्रव्य संप्रेषणीय मौखिक भाषाई रूप (रजिस्टर/प्रयुक्ति) से जुड़ा है। आज, दूरदर्शन के कई चैनल, कई क्षेत्रीय भाषाओं, हॉलीवुड की अरबों रुपयों वाले बजट की अंग्रेजी फिल्मों एवं यूरोप, जापान, ईरान आदि की वैश्विक-स्तर पर पुरस्कृत फिल्मों को हिंदी में डब कर दिखाते हैं, जो बढ़िया आय का स्रोत हैं। यह बहुत विशाल उद्योग है जहां, रोजगार की अपार संभावनाएं हैं। इस दिशा में एक उदाहरण काफी है। ज्ञातव्य है, विशेषकर हिंदी सिनेमा जगत से जुड़ी हुई आज की अमीर युवा पीढ़ी (सैफ अली खान, ऋतिक रोशन, कैटरीना कैफ आदि) जिनका सिनेमाई प्रशिक्षण अमरीकी संस्थानों से हुआ है, बोलचाल की स्वाभाविक हिंदी से कटी हुई है। बॉलीवुड में आकर वे हिंदी फिल्मों में काम करना चाहते हैं। 1991 में सैफ अली खान ने 'बेखुदी' नाम की फिल्म साइन की, जिसमें काजोल हीरोइन थी। बाद में, सैफ अली खान से वह फिल्म इसलिए वापस ले ली गई क्योंकि वह हिंदी के संवाद ठीक तरह से नहीं कह (संप्रेषित कर) पा रहा था। बाद में उसने, मुंबई में चलने वाले हिंदी संवाद अदायगी कौशल के क्लास ज्वाइन

किए; जहां उस समय तिमाही प्रशिक्षण के लिए प्रतिमाह, रु 75000/- से 1 लाख के बीच फीस देना पड़ती थी (आइ-पत्रिका, संडे इंडियन एक्सप्रेस, फरवरी 26 मार्च 3, 2012, पृ.15) इन वर्गों में अच्छी संख्या में प्रशिक्षार्थी आते थे। अब तो दूरदर्शन के सैकड़ों हिंदी चैनलों और अरबों रुपयों की हिंदी फिल्म इंडस्ट्री में यह उद्योग कितना फल-फूल रहा है इसकी कल्पना की जा सकती है।

#### अन्य प्रमुख क्षेत्र

**वक्तृत्व-कला (Oratory) :** यह भाषाई-सम्प्रेषण की आदि कला है। परंतु सम्प्रेषण के स्तर पर यह आज भी सबसे जीवंत मौखिक भाषाई-कला है। मानव समाज का अधिकांश वर्ग इसी कला का उपयोग करता है। यह कला मुख्यतः बोलने और तदनुसार उसके आंगिक क्रियाओं के तालमेल से जुड़ी हुई है। अधिकतर, राजनेता/प्रशासक/अधिवक्ता, अभिनेता, शिक्षक (शिक्षण-संप्रेषक), धर्म-गुरु, सामाजिक, आर्थिक-कार्यकर्ता जैसे पेशेकार इसका खुलकर प्रयोग करते हैं। इन वर्गों के अधितर लोग ज्यादा से ज्यादा लोगों (श्रोताओं) तक पहुंचना चाहते हैं। जाहिर है, भारत जैसे बहुभाषी देश में, जहां साक्षरता दर अपेक्षाकृत कम है, सबसे अधिक बोले जाने वाले भाषाई रूप अर्थात्; हिंदी/हिंदुस्तानी/हिंग्लिश के माध्यम (भाषाई-उपकरण) से ही यह कार्य होता है। श्रोता पर प्रभावशाली मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालने के स्तर पर यह कार्य प्रभावशाली वक्तृत्व-कला पर निर्भर करता है। इस दिशा में भाषाई-उपकरण एवं उसकी अर्थवत्ता (Semantic-Value) के अनुसार आंगिक क्रियाओं के तालमेल का बड़ा महत्व रहता है। न केवल हमारी संसद में अपितु विदेशों में बसे भारतीयों के बीच में भी मौखिक हिंदी का खूब प्रभावशाली तरीके से प्रयोग होता है। हमारे प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी और नरेंद्र मोदी इसकी बढ़िया मिसाल हैं। आज हमारे, राजनेता/प्रशासक/अधिवक्ता, अभिनेता, शिक्षक (शिक्षण-संप्रेषक), धर्म-गुरु, सामाजिक, आर्थिक-कार्यकर्ता जैसे पेशेकार हिंदी/हिंदुस्तानी/हिंग्लिश में अपनी बात आकर्षक ढंग से कहना चाहते हैं, इस दिशा में उनके बीच इस भाषा-रूप/शैली के वक्तृत्व-कला-प्रशिक्षण को लेकर (दृश्य-श्रव्य सामग्री के साथ), अल्प अवधि के विशेष पाठ्यक्रम चलाने की आवश्यकता है। आज की सदी में, यह बहुत बड़ा क्षेत्र है।

**द्विभाषी-कला :** वैश्विक-स्तर पर आज कई राष्ट्र अपनी कुल अस्मिता की पहचान को अपने राष्ट्र की स्वाधीनता के साथ जोड़कर देखते हैं। इस संदर्भ में, अपने राष्ट्र की प्रमुख भाषा एक बहुत बड़े अस्मिताई-घटक के रूप में कार्य करती है। चूंकि हिंदी भारत संघ की आधिकारिक राजभाषा है भारतीय संविधान, अनुच्छेद, 343 (1), अतः हमारे जागरूक राजनेता भारत जैसे बहुभाषी देश में एवं विदेशी राजनयिकों के साथ, अपनी अस्मिता बनाए रखने के लिए, दुभाषिण (Interpreter) की मदद से हिंदी में विमर्श/वार्तालाप करना पसंद करते हैं। आज हमारे देश में तथा वैश्विक स्तर पर, कई भाषाएं अपने-अपने राज्य/राष्ट्र की आधिकारिक राज/राष्ट्र-भाषा के रूप में काम कर रही हैं, सभी भाषाओं के हिंदी-दुभाषियों का मिलना मुश्किल होता है; अतः मजबूरन यह कार्य अंग्रेजी के बिचौलियेपन के साथ होता है। आज हम, राष्ट्रसंघ की छह आधिकारिक भाषाओं (अंग्रेजी, रूसी, फ्रेंच, स्पेनिश, चीनी(मंदारिन) एवं अरबी) के साथ-साथ हिंदी को भी स्थान दिलाना चाहते हैं, ऐसी स्थिति में हिंदी के साथ इन सभी भाषाओं के वैश्विक स्तर के उच्च कोटि के कई दुभाषियों की आवश्यकता होगी। अतः हिंदी को केंद्र में रखते हुए, बड़ी संख्या में दुभाषियों की आवश्यकता बनी हुई है।

### पढ़ना-लिखना, भाषा (के कार्यान्वयन/क्रियाकलाप) को देखना

विज्ञान एवं जनसंचार की प्रगति के अनुसार, वैश्विक स्तर पर हिंदी और उसकी शैलियों (हिंदुस्तानी/हिंग्लिश) का व्यवहार बढ़ रहा है। अतः इनके पढ़ने-लिखने (प्रस्तुति), कार्यान्वयन/क्रियाकलापों के संदर्भ में इनको-देखने एवं तदनुसार इनके संबंधित कौशलों में महारत हासिल करने की आवश्यकता आन पड़ी है। परंतु हमारे शैक्षणिक संस्थान (विश्वविद्यालय आदि) हिंदी अध्यापन के नाम पर अधिकतर हिंदी साहित्य का अध्यापन करवा रहे हैं; जबकि भाषा आइए संक्षेप में इसे देखें :-

प्रमुख कौशल-क्षेत्र (पढ़ना-लिखना)

अनुसार, रेडियो, टी.वी. सिनेमा के लिए, समाचार, बड़ा क्षेत्र है।

भाषा (के कार्यान्वयन/क्रियाकलाप) को देखना

जब तक, भाव संप्रेषण को लेकर पढ़ने-लिखने का कौशल विकसित नहीं हुआ था, तब तक मानव समाज भाव संप्रेषण के स्तर पर सुनने और बोलने के कौशल के आधार पर अपने मनोभाव प्रकट/संप्रेषित करता था। भाषाविदों ने भी, भाव संप्रेषण के स्तर पर, निरंतर अभ्यास के आधार पर अर्थपूर्ण ध्वनियों को भाषा संरचना के स्तर पर, सुनने और बोलने को किसी भाषा के अधिगम (सीखने) का कौशल माना। बाद में, विज्ञान की उन्नति/प्रगति के साथ भाषा के पढ़ने-लिखने के कौशलों का विकास हुआ। इन चारों कौशलों के विकास से भाषाई अधिगम और अर्थवत्ता बहुत विकसित हुई परंतु फिर भी भाषा-विधा की सार्वजनीनता/सार्वभौमिकता को लेकर अविश्वास रहा और कहा जाने लगा कि भाषा एक यादृच्छिक भाषिक व्यवस्था है। 'Language is a system of arbitrary connections' अर्थात् किसी विशेष समाज की भाषा द्वारा उस समाज में निश्चित अर्थ को ही संप्रेषित किया जा सकता है अर्थात्, वह सार्वभौमिकता (Universality) से परे, जबकि कोई वस्तु जैसे, सूरज आदि सभी समाजों को एक ही आकार/रंग में दिखाई देता है या अलग-अलग भाषा-भाषी समाजों की आधारभूत भाव-क्रियाएं (Conceptual-Actions) यथा आ, बवउम, वा (तमिल) में हाथों की क्रिया (Action), सामने से अपनी ओर बुलाने का इशारा आदि, सभी जगह एक जैसी (सार्वभौमिक) है और अपने होने की अवधारणा को एक ही तरीके से संप्रेषित करता है। परंतु, भाषा/भाषाओं के साथ ऐसा नहीं है; सूरज/सन/आफताब, एक ही आकार/रंग/गुण की वस्तु होते हुए भी भाषिक स्तर पर, अलग-अलग ध्वनियों/शब्दों से बंधे हुए हैं। अतः अवधारणा संप्रेषण के संदर्भ में, भाषाई व्यवस्थाएं सार्वभौमिक न होते हुए, यादृच्छिक (मनमाने) ढंग से काम करने वाली, होती हैं, जबकि वस्तु (दृश्य) के साथ ऐसा नहीं है; अवधारणा संप्रेषण के संदर्भ में वह सार्वभौमिक है। क्रांति ने इसे अवधारणा-संप्रेषण के स्तर पर, मनोवैज्ञानिक रूप से स्थापित कर दिखाया है।

मनो-व्यवहार विज्ञान (Human-Behavioral Science) एवं भाषिक व्यवहार भाषा वैज्ञानिकों ने, मनोविज्ञान और भाषा-व्यवहार के संदर्भ में -अधिगम/ व्यवहार का अध्ययन क्षेत्र अधिकतर मानव (बच्चों) के भाषा सीखने (अधिगम) के वाचिक सोपानों तक सीमित रखा :- "Psycholinguistics (...Seen in the 1960s as including two main subfields (the empirical study of the development of language in children and the investigation through experiments of the psychological mechanisms for the production and understanding of speech

“+या फिर, शैलीकारों (शैलीभाषा-वैज्ञानिकों stylistis) ने इसे ज्यादातर, ... "style in language : traditionally, of variations in usage among literary and other texts (now, more generally, of systematic variation, in either writing or speech, which relates to the type of discourse or its context- ++ (+ - ++ :-The Concise Oxford Dictionary of Linguistics, II-Edition (2007), ed (by P.H. Matthews (Pg. 327-386) के रूप में रखा, जिसने केवल प्रयुक्त भाषा के भाषिक रूप को भाषाविज्ञान के सिद्धांतों के आधार पर, भाषा सीखने (अधिगम)/समझने में हमारी शैक्षणिक (व्याकरणिक/भाषा संरचना के संदर्भों में) मदद की। परंतु किसी मनुष्य द्वारा प्रयुक्त भाषा के आधार पर, उसके समग्र व्यक्तित्व/व्यवहार को, पूरी पृष्ठभूमि (पारिवारिक/सामाजिक/आर्थिक/राजनैतिक/सांस्कृतिक-धार्मिक/वैज्ञानिक-यांत्रिक/प्राकृतिक/शारीरिक/चिकित्सा/अन्य भौतिक कारकों आदि) के साथ जोड़कर, मनोविज्ञान के व्यवहार-सिद्धांतों के आधार पर, भाषा प्रयोगशालाओं आदि में अनुसंधान/प्रयोग करके वैज्ञानिक/तार्किक रूप से परख/विश्लेषित कर, समझने का गंभीर एवं सार्थक प्रयास नहीं किया गया। इस दिशा में हिंदी-साहित्यिक एवं उनकी कृतियों के अध्ययन/अध्यापन/अनुसंधान का कार्य लगभग नगण्य रहा।

21वीं सदी का युवा, वैज्ञानिक सोच के साथ व्यावहारिक हिंदी ज्ञान के रोजगारोन्मुख लघु/पूर्णकालिक पाठ्यक्रम चाहता है। हम इसके लिए कितना तैयार हैं?





# नलिन विलोचन शर्मा : एक विरल व्यक्तित्व

## साधना अग्रवाल

मुझे ठीक से नहीं मालूम कि हिंदी लेखकों के लिए आचार्य की उपाधि का आरंभ कब से हुआ? बस इतना भर मुझे मालूम है कि संभवतः यह भारतेंदु युग से शुरू हुआ और हिंदी के पहले आचार्य 'सरस्वती' के संपादक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी हैं और दूसरे आचार्य हिंदी साहित्य के इतिहास के लेखक आचार्य रामचंद्र शुक्ल हैं। गौर करने की बात यह है कि काशी नागरी प्रचारिणी के संस्थापक बाबू श्यामसुंदर दास बी.ए. के लिए आचार्य शब्द का प्रयोग नहीं हुआ। वैसे बाद में तो अनेक आचार्य हुए हैं जैसे आचार्य शिवपूजन सहाय, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, आचार्य नंददुलारे वाजपेयी और हिंदी के अंतिम आचार्य नलिन विलोचन शर्मा। वैसे प्रो. नामवर सिंह मानते ही नहीं बल्कि प्रायः कहते भी हैं कि हिंदी में केवल एक ही आचार्य हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल। उनके इस कथन में सच्चाई है लेकिन पूरी नहीं। अब यह बड़ी विडंबना है कि हिंदी विभागों के तमाम प्रो. अपने आप को आचार्य कहने लगे हैं। शायद यह थोड़ा विषयांतर है, इसके लिए आप मुझे क्षमा करेंगे। आचार्य नलिन विलोचन शर्मा सचमुच आचार्य थे और भारतीय विश्वविद्यालयों के हिंदी विभाग में सबसे कम उम्र में वे पटना विश्वविद्यालय के विभागाध्यक्ष हुए।

आचार्य नलिन विलोचन शर्मा के जीवन और लेखन पर बहुत नहीं लिखा गया है। वस्तुतः जन्मशताब्दी वर्ष हमें किसी लेखक के लेखन का पुनर्मूल्यांकन करने का अवसर प्रदान करता है ताकि हम उसके लेखन को सामने ला सकें और अपने समय से उसे जोड़ सकें। मुझे बहुत दुःख के साथ कहना पड़ रहा है कि अभी तक आलोचक और कहानीकार नलिन विलोचन शर्मा का सम्यक मूल्यांकन हम नहीं कर पाए। उन पर लिखे छिटपुट लेखन की मैं बात नहीं कर रही। ले-देकर सबसे पहले 'हिंदी आलोचना के विकास' में हिंदी के आलोचक नंदकिशोर नवल ने नलिनजी के आलोचक का विवेचन किया है। और प्रो. गोपेश्वर सिंह ने साहित्य अकादेमी के लिए उन पर मोनोग्राफ लिखा। साथ ही साथ नेशनल बुक ट्रस्ट के लिए एक लंबी भूमिका के साथ नलिन विलोचन शर्मा के निबंधों को संकलित किया है। यहां एक बात की ओर उल्लेख करना मुझे जरूरी लगता है कि नेशनल बुक ट्रस्ट के नवजागरण के अग्रदूत शृंखला में डॉ. नंदकिशोर नवल ने नलिनजी के पिता महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा पर एक पुस्तिका लिखी।

अब नलिनजी के जीवन से संबंधित कुछ बातें-मेरे सामने नलिनजी से संबंधित दो पुस्तकें हैं-एक हिंदी साहित्य कोश भाग-2 जिसमें नलिनजी के जीवन और लेखन के बारे में इलाहाबाद वि.

वि. के हिंदी विभाग के प्रो. सत्यप्रकाश मिश्र ने लिखा है और दूसरी पुस्तक है गोपेश्वरजी का लिखा मोनोग्राफ। यह अच्छी बात है कि दोनों पुस्तकों में उनके जीवन के बारे में तथ्यों के बारे में कोई अंतर्विरोध नहीं है। नलिन विलोचन शर्मा का जन्म भारद्वाज गोत्र के सरयूपारीण ब्राह्मण-कुल में विक्रम-संवत् 1972 माघ शुक्ल चतुर्दशी, तदनुसार सन् 1916 ई. की 18 फरवरी को संध्या 6 बजे, पटना सिटी यानी पुराना पटना नगर के बदरघाट के पास एक मकान में हुआ था। वे दर्शन और संस्कृत के प्रख्यात विद्वान महामहोपाध्याय पं. रामावतार शर्मा के ज्येष्ठ पुत्र थे। नलिनजी की माता का नाम रत्नावती शर्मा था, जो रामावतार शर्मा की तीसरी पत्नी थीं। पहली दोनों पत्नियों की मृत्यु के बाद शर्माजी का विवाह उनसे हुआ था। पहले की शादियों से संतान रूप में दो लड़कियां थीं। नलिनजी के दो छोटे भाई और छोटी-बड़ी 6 बहनें थीं। उनके व्यक्तित्व पर उनके पिता की छाया ही नहीं थी बल्कि कठोर अनुशासन भी था। यह अकारण नहीं है कि नलिनजी में एक विद्रोह की प्रवृत्ति उभर गई और वे लगभग अराजक हो गए। सिगरेट पीना, शराब पीना और देर रात तक पढ़ना लेकिन क्लास में पढ़ाने के लिए ठीक समय पर जाना, भाषा विज्ञान से लेकर पाश्चात्य काव्यशास्त्र और गोदान पढ़ाने तक। सत्य प्रकाश मिश्र ने ठीक लिखा है, '13 वर्ष की उम्र में ही उनके पिता का देहांत हो गया, जिसका कष्ट पूरे परिवार को झेलना पड़ा। पटना के एक स्कूल से उन्होंने मैट्रिक किया और पटना कॉलेज से उन्होंने 1938 ई0 में संस्कृत से एम.ए. किया। यहीं वे प्रसिद्ध विद्वान डॉ. अनंत प्रसाद बनर्जी की देख-रेख में शोधकार्य करते रहे। इसी बीच 1942 ई. में उनकी नियुक्ति हरप्रसाद दास जैन कालेज आरा में संस्कृत प्रवक्ता के रूप में हो गई। यहीं कार्य करते हुए 1942 ई. में ही उन्होंने हिंदी से एम.ए. भी कर लिया। इसके बाद वे कुछ दिन रांची कालेज में और फिर अप्रैल 1948 ई. से पटना कालेज में रहे, जहां वह आजीवन कार्य करते रहे। 12 सितंबर 1961 को अचानक हृदयगति रुक जाने से उनका निधन हो गया। गौर करने की बात यह है कि निधन के एक दिन पहले उन्होंने पटना वि.वि. के हिंदी विभाग में रीतिकाल के आचार्य डॉ. विश्वनाथ मिश्र का व्याख्यान आयोजित किया।

नलिनजी का अद्भुत विलक्षण व्यक्तित्व था। यहां कुछ प्रसंग में आपके सामने रखना चाहती हूं। उनके पिता महामहोपाध्याय पं. रामावतार शर्मा हिंदी, अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, पालि, संस्कृत और लैटिन के विद्वान थे। मालवीयजी ने उन्हें बी.एच.यू. में प्रोफेसर बनाया। वे पटना वि.वि. और कलकत्ता वि.वि. से भी जुड़े हुए थे। उनके बारे में एक किंवदंती प्रसिद्ध है कि उन्होंने 5वां वेद लिखा। यही नहीं उन्होंने कालिदास के रघुवंश का अनुवाद लैटिन भाषा में किया। उनके बारे में एक दिलचस्प प्रसंग का जिक्र करना चाहूंगी। नलिनजी के पिता का कठोर अनुशासन था और वे अपने बेटे नलिनजी से अक्सर नाराज रहते थे। एक दिन कालेज से लौटते हुए वे रसगुल्ला लेकर आए, अपने बेटे नलिन की तरफ देखते हुए उन्होंने कहा, यह रसगुल्ला मैं खाऊंगा, तुम नहीं, तुम बस देखते रहोगे। दूसरा प्रसंग और दिलचस्प है, नलिनजी निरालाजी से मिलने दारागंज इलाहाबाद गए। निरालाजी इनकी कद-काठी को देखकर हैरान थे। हिंदी में तीन ऐसे साहित्यकार हुए हैं जिनकी कद-काठी ग्रीक मूर्तियों की तरह है-पहले हैं निराला, दूसरे दिनकर और तीसरे नलिनजी। मिलते ही निरालाजी ने पूछा, नलिन, तुम यह बताओ, तुम्हारी ऊंचाई कितनी है? उन्होंने कहा-6 फिट 1 इंच। और वजन कितना है? 2 मन 32 सेर। निराला को विश्वास ही नहीं हुआ बल्कि हैरानी भी हुई और

तत्काल पास में ही कहीं जाकर वजन लिया। नलिनजी का वजन अक्षरशः उतना ही निकला और निरालाजी का 2 मन 8 सेर। इस नाप-जोख से निरालाजी थोड़ा हतप्रभ हो गए। घर लौटते उन्होंने कहा, 'मैं भी तुम्हारी तरह कभी तंदरूस्त था लेकिन इधर मेरा कुछ स्वास्थ्य गिर गया। तीसरा प्रसंग भी कम दिलचस्प नहीं है। बिहार हिंदी साहित्य सम्मेलन की पत्रिका 'साहित्य' का आचार्य शिवपूजन सहाय के साथ नलिनजी 11 वर्षों तक संयुक्त संपादन करते रहे। नलिनजी लिखते हैं, 'प्रमादवश, आचार्यजी की एक संपादकीय टिप्पणी की प्रेस कॉपी देखने के बदले मैंने कोश देखकर प्रूफ में एक संशोधन कर दिया।' वह शब्द था 'रुझान', जिसका प्रयोग आचार्य शिवपूजन सहाय ने पुल्लिंग में किया था और नलिनजी ने उसे स्त्रीलिंग में बदल दिया। नलिनजी लिखते हैं, 'परिणाम यह हुआ कि जब मैंने खुद ही विचार करना शुरू किया तो पाया कि संशोधन करके मैंने भूल की है; मैं इसके लिए 'साहित्य' में एक टिप्पणी लिखकर क्षमा मांग चुका हूँ।' अंतिम एक बेहद कारुणिक प्रसंग है। एक दिन बिहार हिंदी साहित्य सम्मेलन के अनुशीलन कक्ष में आचार्य शिवपूजन सहाय और नलिनजी बैठे हुए थे। नलिनजी ने कहा, 'साहित्य' के संपादकीय स्तंभ में स्वर्गीय साहित्य-सेवियों पर लिखी आपकी संस्मरणात्मक टिप्पणियां मुझे बहुत पसंद हैं। मैंने कहा कि आपकी पसंद ही उनकी सार्थकता है किन्तु मेरे निधन पर आपको भी वैसी ही टिप्पणी लिखनी पड़ेगी। छूटते ही बोल उठे कि कहीं आपको ही मेरे लिए लिखना पड़ गया तो आपकी अभ्यस्त लेखनी मुझसे बाजी मार ले जाएगी।' संयोग देखिए नलिनजी का निधन 1961 में हो गया और आचार्य शिवपूजन सहाय को उनकी श्रद्धांजलि लिखनी पड़ी 'साहित्य' के नलिन स्मृति अंक में। नलिनजी पर उनके निधन के बाद 'साहित्य', 'नई धारा' और 'परिषद् पत्रिका' के विशेषांक निकले।

देखिए, नलिनजी जब तक जीवित रहे, साहित्य के संस्पर्श में रहे और शोधार्थियों और विद्यार्थियों की मदद करते रहे। कहना चाहिए नलिनजी अपने पिता की तरह एक विराट प्रतिभा थे। अब नलिनजी के लेखन पर कुछ बातें-जहां तक मुझे जानकारी है नलिनजी के कृतित्व का विश्लेषण अभी तक ठीक से नहीं हुआ है। नंदकिशोर नवल ऐसे पहले आलोचक थे जिन्होंने अपनी हिंदी आलोचना का विकास' नामक पुस्तक में डॉ. रामविलास शर्मा के बाद परवर्ती आलोचना में नलिनजी के कृतित्व पर विस्तार से लिखा है। लिखते हैं- 'नलिनजी ने अधिनायकत्व की फ्रॉयडवादी व्याख्या को स्वीकार करते हुए सर्वहारा के अधिनायकवाद के बारे में लिखा है- 'सर्वहारा का अधिनायकत्व'- यह मोहक वाक्य आँखों के सामने विवेक और निस्पृह भावना से क्रियाशील, राजनीतिक चेतनायुक्त व्यक्तियों के संश्लिष्ट सहयोग का चित्र उपस्थित कर देता है, परंतु इससे उस वास्तविकता का क्या संबंध जहां मूक-मानव समूह वैज्ञानिक युक्तियुक्तता का जामा पहने वस्तुतः फ्रॉयड के उक्त आदिम निरंकुश नायक की ही अंधपूजा, आज्ञापालन करता है।'

नलिनजी को वे रूपवादी आलोचक मानते हैं। यही नहीं उनकी राजनीतिक विचारधारा के प्रतिक्रियावादी रूप को भी उजागर करते हैं। यह अलग बात है नलिनजी इसके विपरीत सोवियत संघ को अमेरिका के समकक्ष बतलाते हुए कहते हैं, 'रूस और अमेरिका दोनों ही देशों में-वहां की राजनीति में चाहे जितना भी वैषम्य हो-साहित्य के मेरुदंड के नीचे प्रसुप्त कुंडलिनी जग चुकी है और वह बीच के चक्रों को भेदकर ऊपर तक पहुंच-पहुंच जाती है। गांवों के फार्मों में काम करने वाले किसान और साहित्यशास्त्र से कोरे सैनिक, जब अकस्मात् कुछ लिख डालते हैं-और वे ज्यादातर

उपन्यास ही लिखते हैं-तो साहित्य जगत में एक तहलका मच जाता है, तभी मालूम होता है कि बहते नारे में कैसा वेग होता है, और साहित्यशास्त्र को भी बहुत कुछ मिल जाता है जो बाल की खाल निकालने से भिन्न होता है।’

एक और बात साहित्य में विषय-वस्तु पर रूप को प्रधानता देने के कारण नलिनजी ने सामाजिक परिस्थियों के प्रति साहित्यकार के दायित्व को पूर्णतः अस्वीकार किया। उन्होंने ‘साहित्यकार की सामाजिक चेतना’ शीर्षक संपादकीय टिप्पणी में स्पष्ट शब्दों में लिखा है, ‘कलाकार को पूरा अधिकार है, अगर वह ऐसा चाहता है, कि वह अपने समय की सामाजिक या राजनीतिक क्रांतियों की उपेक्षा करे, और अगर वह महान कलाकार है, तो वह ऐसा करके अपने अमर बन जाने की संभावनाओं में वृद्धि कर सकता है।’

नलिनजी सामाजिक परिवर्तनों से साहित्यकार की विमुखता और उसकी दृष्टिकोणहीनता की वकालत तो करते ही हैं, वे सामाजिक दृष्टि से साहित्य को एक प्रभावहीन वस्तु भी मानते हैं। उन्होंने लिखा है, ‘हम मानते हैं कि यदि कोई साहित्यकार किसी आंदोलन में विश्वास करता है तो उसे सीधे उसमें शामिल होना चाहिए, साहित्य की बीरबली खिचड़ी पकाने की कोशिश से होता ही क्या है!’

साहित्य के दो पक्ष-वस्तु और रूप-सर्वविदित हैं। नलिनजी साहित्य की विषयवस्तु को आलोचना का विषय नहीं मानते। उन्होंने ‘कुरुक्षेत्र’ की आलोचना के प्रसंग में लिखा है, ‘दिनकर को एक जलती हुई समस्या पर ‘कुछ कहना है’, यह उनकी स्वीकृति है। वे चाहेंगे, उनके कहने की मीमांसा हो। मनुष्य के अस्तित्व से संबंध रखने वाले इस प्रश्न पर कोई भी सोचने वाला व्यक्ति विचार-विनिमय करना चाहेगा, किन्तु यह भी निश्चित है कि यह काव्यालोचन का विषय नहीं हो सकता।’

नलिनजी के रूपवाद का टकराव स्वभावतः प्रगतिवाद से हुआ। प्रगतिवादी कला को अपने ध्येय के अनुरूप ढालना चाहते थे। नलिनजी ने इस स्थिति को उटपटांग बतलाया। उन्होंने कहा कि जब साम्यवाद और अराजकतावाद दोनों का लक्ष्य है अराजकता, तो फिर कला में ही किसी नियम-कानून की बात क्यों की जाए? बात यह है कि वास्तविक कला अराजकता की स्थिति को प्राप्त कर चुकी है, जबकि राजनीति को अभी वहां पहुंचना है। उन्होंने साम्यवादियों अर्थात् प्रगतिवादियों की ओर संकेत करते हुए लिखा है, ‘वे यह नहीं समझते कि वास्तविक कला आज भी उसी ध्येय (एनार्की) की कल्पना कर ही अपना अस्तित्व बनाए हुए है-अराजकता के राजनीतिक आविर्भाव के लिए वह प्रतीक्षा नहीं कर रही है। कला वहां पहुंचती ही रहती है जहां पहुंचने के लिए साम्यवाद अभी प्रयत्न ही कर रहा है।’

नलिनजी सजग और चेतन प्राध्यापक थे और वे साहित्य के बारे में खुलकर बात करते थे। उन्होंने प्रेमचंद पर भी टिप्पणी की है खासकर अपनी पुस्तक ‘हिंदी उपन्यास : विशेषतः प्रेमचंद’ में। देखिए नलिनजी को बहुत कम उम्र मिली लेकिन नई कविता के समानांतर उन्होंने नकेन का प्रपत्र निकाला और नई कविता की भूमि को और चौरस किया। हिंदी कविता के इतिहास में छायावाद, प्रयोगवाद, प्रगतिवाद के बाद यह नकेन कविता का अलग प्रस्तावित एजेंडा था। नकेन के तीन कवि थे-नलिन विलोचन शर्मा, केसरी कुमार और नरेश। नलिनजी बेहद पढ़ाकू आलोचक थे। पाश्चात्य साहित्य को उन्होंने खूब पढ़ा था। यह अलग बात है कि नलिनजी ने जिन कवियों को अपनी

आलोचना का विषय बनाया है, या जिन कवियों की कृतियों की समीक्षा लिखी है उनमें मैथिलीशरण गुप्त, सुमित्रानंदन पंत, दिनकर और त्रिलोचन शास्त्री प्रमुख हैं। यह एक संयोग ही है कि ये चारों ही कवि 20 वीं शताब्दी की हिंदी कविता के चार युगों के प्रतिनिधि कवि हैं। नलिनजी ने अपनी प्रणाली के अनुसार इन कवियों की कविता के रूप-पक्ष पर ही विचार किया है, वस्तु-पक्ष पर नहीं।

नलिनजी ने अपने छोटे जीवन में जितना बड़ा काम किया दुर्लभ उदाहरण है। उनकी प्रकाशित पुस्तकें हैं- 'दृष्टिकोण', 'विष के दांत', 'नकेन के प्रपत्र', 'साहित्य का इतिहास दर्शन', 'मानदंड और हिंदी उपन्यास : विशेषतः प्रेमचंद' आदि।

नलिनजी की अंतिम कहानी भैरव प्रसाद गुप्त द्वारा संपादित 'नई कहानियां' के मई 1960 की पहली कहानी 'बरसाने की राधा' एक अद्भुत कथा शिल्प का उदाहरण है। सचमुच नलिनजी हिंदी आलोचना के विरल ही नहीं विलक्षण पुरुष थे।

**संदर्भ :**

हिंदी साहित्य कोश भाग 2

हिंदी आलोचना का विकास-नंदकिशोर नवल

नलिन विलोचन शर्मा-गोपेश्वर सिंह

नलिन विलोचन शर्मा : संकलित निबंध-संकलन गोपेश्वर सिंह

हिंदी-भूषण शिवपूजन सहाय-संकलन-संपादन मंगलमूर्ति

मेरा जीवन- आचार्य शिवपूजन सहाय- संकलन-संपादन मंगलमूर्ति

## छायावाद के प्रथम निबंधकार : मुकुटधर पाण्डेय

रामनारायण पटेल

निबंध आधुनिक गद्य की एक महत्वपूर्ण विधा है। इसका प्रारंभ यद्यपि भारतेंदु-युग में ही हो गया था किंतु द्विवेदी-युग तक आते-आते इसमें एक जबर्दस्त ठहराव आया। ठहराव इस अर्थ में कि द्विवेदी-युग में साहित्य की अन्य विधाओं से कहीं अधिक निबंध के विषय, शैली और कथ्य में परिष्कार की प्रवृत्ति दिखाई देती है। इस समय जहां साधारण और सामाजिक विषयों पर आधारित निबंध लिखे गए, वहां गंभीर और स्थायी महत्व के निबंधों की भी रचना हुई। इस समय जो निबंध लिखे गए उसका संबंध मुख्यतः समाज, संस्कृति और साहित्य के विकास से था। जन-जीवन की वर्तमान अवस्था के चित्रण के साथ-साथ साहित्य में आ रहे बदलावों को रेखांकित करना भी साहित्यकारों का उद्देश्य था लेकिन साहित्यिक लेखन में बदलाव की यह प्रवृत्ति युवा लेखकों में कहीं अधिक थी। ऐसे लेखक द्विवेदी-युगीन पुरानी मान्यताओं के बदले स्वच्छंदता का मार्ग अपना रहे थे, जिसकी शुरुआत श्रीधर पाठक की रचनाओं में से चुकी थी। स्वच्छंदता की यही प्रवृत्ति आगे चलकर छायावाद की पृष्ठभूमि बनी।

छायावाद आधुनिक हिंदी साहित्य का एक महत्वपूर्ण पड़ाव है। यह भक्ति आंदोलन के बाद का सबसे सशक्त काव्यान्दोलन है। यद्यपि इसका भावोदय द्विवेदी-युग के उत्तरार्द्ध में ही हो गया था किंतु इसका नामकरण सन् 1920 में श्री मुकुटधर पांडेय द्वारा किया गया। मुकुटधर पांडेय अपने युग के सबसे अधिक प्रगतिशील रचनाकार थे। उन्होंने काव्य में उन आत्मगत भावनाओं को स्थान दिया जो द्विवेदी-युग की काव्यगत प्रवृत्तियों से पर्याप्त भिन्न थी। यही प्रवृत्ति उनके निबंधों में भी रही। उनके इस समय लिखे गए निबंध- 'कविता', 'हिंदी में छायावाद', 'कालिदास संबंधी निबंध' आदि इस दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। 'छायावाद क्या है?' नामक निबंध में उन्होंने छायावाद और उसकी प्रवृत्तिगत विशिष्टताओं की चर्चा करते हुए लिखा है- 'हिंदी में यह (छायावाद) एक बिलकुल नया शब्द है।... अंग्रेजी या किसी पाश्चात्य साहित्य अथवा बंग-साहित्य की वर्तमान स्थिति की कुछ भी जानकारी रखने वाले तो सुनते ही समझ जाएंगे कि यह शब्द 'मिस्टिसिज्म' के लिए आया है।' स्पष्ट है कि मुकुटधरजी ने 'छायावाद' शब्द को 'मिस्टिसिज्म' के अर्थ में ग्रहण किया था जिसमें रहस्य-भावना की व्यंजना के साथ-साथ प्रगीतात्मकता की प्रवृत्ति हो।

वस्तुतः इसे एक क्रांतिकारी कदम कहा जा सकता है कि द्विवेदी-युग के भीतर जो नवीन काव्यधारा का भावोदय हुआ उसकी पृथक पहचान के लिए उसे किस नाम से जाना जाए? क्योंकि

उन भाव-प्रधान एवं रहस्य-प्रधान मुक्तक-प्रगीतों में भारतीय सांस्कृतिक चेतनाधारा के साथ-साथ अंग्रेजी के रोमांटिक कवियों और बांग्ला का, विशेषकर कवीन्द्र रवीन्द्र का प्रभाव भी परिलक्षित हो रहा था। इस नवीन शैली के चिंतन-मनन के बाद ही मुकुटधरजी ने इसका 'छायावाद' नामकरण किया। इस संबंध में उन्होंने लिखा- नई शैली पर मैंने कुछ आलोचनात्मक लेख बांग्ला में पढ़े थे। उसके अनेक लक्षण जो बताए गए थे उसमें 'छायावादिता' भी एक थी। मैंने इस लक्षण पर स्वतंत्र रूप से विचार किया था। इस अभिनव शैली पर जब मैंने लिखने का विचार तब मेरे सामने पर्यायवाची हिंदी शब्द का प्रश्न आया। मैंने कई विद्वानों से परामर्श किया।... मेरे सामने रवीन्द्र की 'बलाका' आदि कई पुस्तकें थीं। उनके गीतों में अर्थ का अध्यास था।... भावों में एक धुंधलापन था, मानों वे भाव नहीं, भावों की छाया हों। बस इसी बुनियाद पर मैंने 'छायावाद' नाम रखा।<sup>12</sup>

मुकुटधरजी नवीनता और मौलिकता के आकांक्षी थे। इसलिए साहित्य को एक दायरे में रखना अथवा उसके लिए नियम-निर्धारित करना उन्हें पसंद नहीं था। उन्होंने काव्य-शास्त्र के रूढ़ नियमों का विरोध करते हुए नए मानदंडों का समर्थन किया। 'काव्य-स्वातंत्र्य नामक निबंध में उन्होंने स्वच्छंद' कवि मार्ग की आवश्यकता पर बल देते हुए लिखा- 'कविता के लिए एक रीति अथवा नियम आवश्यक अवश्य है, पर यह नहीं कि वह साहित्य में हिमाचल-सा अचल बना रहे,' उसमें कोई परिवर्तन न किया जा सके और न कोई नवीनता ही लायी जा सके।... कवि को इन नियमों को मानने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता।<sup>13</sup> आगे उन्होंने अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का भी प्रश्न उठाया- 'निश्चित रीति से कविता करने में कवि को अपनी प्रतिभा-धारा बहाने के लिए मार्ग ढूँढ़ निकालने को इधर-उधर भटकना नहीं पड़ता।'... किंतु इससे उसे अपनी स्वतंत्रता तथा साहसिकता दिखलाने का अवसर बिल्कुल नहीं आता।'<sup>14</sup> कहना न होगा कि मुकुटधर पाण्डेय अपने निबंधों में जिस मौलिकता, स्वतंत्रता और नवीनता की बात कर रहे थे, वह रीति-ग्रंथों और परंपरागत कवियों के प्रभाव से मुक्ति से संबंधित थे। उनका स्पष्ट मत था कि मौलिकता का अभाव व्यक्तित्व में बाधक है। इसके बिना कवि-प्रतिपत्ति किसी को नहीं मिल सकती। बिना व्यक्तित्व दिखलाए कवि अनुकरणकारी मात्र रह जाता है। उन्हें शिल्पगत नवीनता प्रिय थी। द्विवेदी-युगीन कविता, जिसमें रसात्मक-चित्रण, वाग्वैचित्र्य जैसे काव्य-गुणों का अभाव था, उन्हें खटकती थी। इसलिए उन्होंने कवियों में नैतिक साहस और स्वतंत्र लेखन पर बल देते हुए कहा- 'एक बात तो जरूर है कि उनके (रीति-ग्रंथों के) फंदे में पड़कर कवि बहुत कुछ परतंत्र हो बैठता है। इससे प्रतिभा स्वतंत्र उड़ान नहीं ले सकती। वह घेरे के बाहर जाने के लिए पंख फड़फड़ाती है,' पर उसके पंखों से लगी हुई रस्सी मानों उसे खींचे रखती है।'<sup>15</sup> नवीन काव्यधारा में द्विवेदी युगीन इतिवृत्तात्मकता और रीतियुगीन स्थूल अंगवर्णना के प्रति जैसा विरोध और प्रतिक्रिया का भाव था वैसा ही भाव परंपरागत काव्य-भाषा और अलंकार-विधान आदि के प्रति भी रहा। इन स्वच्छंद कवियों को शिल्प की अभिनव भंगिमा और नवीन भाव-प्रेरित शब्दावली अधिक पर्याप्त लगी। मुकुटधरजी ने अपने निबंधों में इस ओर पर्याप्त प्रकाश डाला है।

मुकुटधरजी के अनुसार छायावाद का मुख्य विषय अनुभूति की अभिव्यंजना है। यह अभिव्यंजना लाक्षणिक पदावली में ही संभव है। जो कवि जितना अधिक कल्पना-प्रवण होगा उसकी अभिव्यक्ति उतनी ही प्रभावी होगी। लाक्षणिक अभिव्यंजना-प्रणाली के संबंध में उनका कहना है- 'छायावाद एक ऐसी मायामय सूक्ष्म वस्तु है कि शब्दों द्वारा उसका ठीक-ठीक वर्णन करना असंभव है। उसका एक

मोटा लक्षण यह है कि उसमें शब्द और अर्थ का सामंजस्य बहुत कम रहता है। कहीं-कहीं तो इन दोनों का परस्पर कुछ भी संबंध नहीं रहता। लिखा कुछ और ही गया है; पर मतलब उसका कुछ और ही निकलता है।<sup>6</sup> ऐसे स्थलों पर उन्होंने छायावाद की भावगत एवं भाषागत सूक्ष्मता अथवा गूढार्थ-व्यंजना को लक्षित किया है। प्रसादजी ने इसी वृत्ति को 'उपचार-वक्रता' कहा है।

जैसा कि प्रसादजी ने छायावाद का संबंध भारतीय दृष्टि से जोड़ा और उसकी विशेषताओं को रेखांकित किया। उनके अनुसार छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौंदर्य, प्रतीक-विधान और उपचार-वक्रता के साथ ही स्वानुभूति की विवृत्ति छायावाद की विशेषताएं हैं।<sup>7</sup> वहीं मुकुटधरजी ने उसकी लाक्षणिकता, भाव की अस्पष्टता और अंतर्मुखी प्रवृत्ति के संबंध में लिखा- 'ऐसी रचनाओं में शब्द अपने स्वाभाविक मूल्य खोकर सांकेतिक-चिह्न मात्र हुआ करते हैं।... छायावाद के कवि वस्तुओं को एक असाधारण दृष्टि से देखते हैं। उनकी रचना की संपूर्ण विशेषताएं उनकी इस 'दृष्टि' पर ही अवलंबित रहती हैं।... अस्थिरता और क्षीणता के साथ-साथ उसमें एक तरह की विचित्र उन्मादकता और अंतरंगता होती है जिसके कारण वस्तु उसके प्रकृत रूप में नहीं, एक अन्य रूप में दीख पड़ती है।... यह अंतरंग दृष्टि ही छायावाद की विचित्र प्रकाशन-रीति का मूल है।'<sup>7</sup> यहां छायावाद की सांकेतिकता, कवि-कल्पना और अंतरंगता को विशेष रूप में रेखांकित किया गया है। सांकेतिकता अथवा चित्र-भाषा तो छायावाद की विशिष्टता है ही, कल्पना का भी केंद्रीय महत्व है। कल्पना का संबंध अंतरदृष्टि अथवा अंतरबोध से है जो भावावेग पर आधारित है। ध्यान रखना होगा कि प्रसादजी जब काव्य को 'आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति' कहते हैं जिसकी वह असाधारण अवस्था जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है तो उनका तात्पर्य इस अंतरबोध वाली अवस्था से ही होता है। अतः यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि छायावाद की जैसी व्याख्या मुकुटधरजी ने की वैसी सूक्ष्म व्याख्या शायद ही किसी ने की हो। छायावादी रहस्य-भावना में जीवन और जगत् के प्रति अथवा मानव और प्रकृति के प्रति को भावात्मक धरातल प्रतिष्ठित हुआ उसे उक्त संदर्भ में देखा जा सकता है।

यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक जान पड़ता है कि मुकुटधरजी ने जिस 'अंतरंगता' अथवा 'अस्थिरता' की बात की है उसे रामविलास शर्माजी ने एक प्रकार का बिंबवाद माना है।<sup>8</sup> लेकिन यह ध्यान दिया जाना चाहिए कि मुकुटधरजी ने जिस 'असाधारण दृष्टि' की बात की है उसका संबंध 'कवि के अंतर्जगत' से है। 'जिस प्रकार किसी भंग-भवानी-भक्त के रंजित लोचनों में कोई वस्तु उसकी भावना या लहर के अनुसार कुछ और ही सूझने लगती है वही स्थिति छायावादी कवियों की दृष्टि की होती है। उनके अनुसार यही 'अंतरंग दृष्टि' छायावाद की विचित्र प्रकाशन-रीति का मूल है। इस प्रकार के नवीन काव्यधारा के कवियों के शब्द मानों 'आदमियों की तरह चलते-फिरते हैं,' इशारा करते हैं, बोलते भी हैं।' यही इस काव्यधारा की भाषा की विलक्षणता है जिसमें भावावेश के साथ-साथ नए मार्ग के ग्रहण की प्रवृत्ति और अर्थ की नई भंगिमाएं विद्यमान थीं। इसी विलक्षणता की ओर संकेत करते हुए उन्होंने कहा कि 'इनकी भाषा ऐसी विलक्षण होती है कि मृत्युलोक में उसका कोई व्याकरण ही नहीं।'<sup>9</sup> पाठक ऐसे भाव-चित्रों का आनंदानुभव तो कर सकता है परंतु उसकी संपूर्ण व्याख्या संभव नहीं। इस अस्पष्टता का कारण बताते हुए उन्होंने लिखा- 'कविता की इस अस्पष्टता



का प्रधान' हेतु है- कवि के भावों की अनिर्वचनीयता। जिस प्रकार कोई समाधिस्थ योगी समाधि से जागने पर ब्रह्मानंद के सुख का वर्णन वचनों से नहीं कर सकता, उसी प्रकार कवि भी अपने हृदयगत भावों को स्पष्ट रूप से शब्दों में नहीं लिख सकता। कविता लिखने के पूर्व उसके हृदय में जो भावावेश प्रकट हुए थे वे शब्द सीमा के भीतर से नहीं आए थे। वे केवल उसके अनुभूति-राज्य की सामग्री थे। अतएव उन्हें शब्द-बद्ध करने में वह अस्पष्टता को किसी प्रकार दूर नहीं कर सकता।<sup>10</sup>

यह दृष्टि द्विवेदी युगीन इतिवृत्तात्मकता शुष्कता अथवा उपदेशात्मक प्रवृत्ति से भिन्न है। यह असाधारण दृष्टि पर अवलंबित रहती है जिसे प्राप्त कर कवि लोक को देख पाता है। एक ऐसा लोक जो किसी सीमा के बंधन को नहीं मानता। इस बंधनहीन लोक का संबंध मन-प्राण के अतीत लोक से है- 'इस कविता देवी का संबंध मर्त्यलोक से बहुत ही कम रहता है और वह बुद्धि और ज्ञान की सामर्थ्य-सीमा का अतिक्रमण करके मन-प्राण के अतीत लोक में ही विचरण करती रहती है; क्योंकि यहां उसे अपनी रुचि तथा इच्छा-पूर्ति का यथेष्ट अवसर मिला करता है।'<sup>11</sup>

इस प्रकार 'छायावाद क्या है?' निबंध में उन्होंने छायावाद पर गंभीर विवेचन प्रस्तुत करते हुए उसे 'असाधारण दृष्टि' पर अवलंबित माना है तथा 'उन्मादकता' तथा 'अंतरंगता' को इस दृष्टि का कारण जिसमें वस्तुएं अपने प्रकृत रूप में नहीं, एक अन्य रूप में दिखाई पड़ती हैं। यह दृष्टि सभी छायावादी कवियों में किसी-न-किसी रूप में विद्यमान है। अतः इसे छायावाद का नकारात्मक पक्ष नहीं माना जा सकता।

'हिंदी में छायावाद' नामक तीसरे और चौथे निबंध में उन्होंने छायावाद के गुण-दोष एवं साहित्य में उसकी वर्तमान स्थिति पर गंभीरतापूर्वक विचार किया है। इसमें उन्होंने नवीन काव्यधारा का प्राचीन काव्य-प्रणाली से पृथक्ता दर्शाते हुए लिखा है- 'साहित्य की जो प्राचीन प्रणाली है उसमें शब्द और अर्थ का अविच्छिन्न संबंध रहता है। हमारे प्राचीन कवि 'वागर्थप्रतिपत्ति' के लिए प्रार्थना किया करते थे। परंतु 'छायावाद' वालों की गति ठीक इसके विपरीत है। वे वागर्थ का संबंध काट देने में ही अपनी काव्य-कला की पराकाष्ठा समझते हैं। जहां सरलता, स्पष्टता, संबद्धता और समता का विशेष ख्याल रखा जाता है; वहां छायावाद में जटिलता, अस्पष्टता, असंबद्धता और विषमता जैसे गुणों का ही प्राधान्य रहता है। प्राचीन प्रणाली में 'प्रासादिकता' का बड़ा आदर है, परंतु 'छायावाद' के साथ उसका नाम तभी लिया जा सकता है जबकि उसका संबंध अर्थ की स्पष्टता से तोड़ा जाकर केवल एक तरह के भावावेश के सनसनाहट अथवा हृदय के आनंद-स्पंदन से ही जोड़ दिया जाए।'<sup>12</sup> इस प्रकार मुकुटधरजी ने छायावाद की कुछ विशेषताओं की ओर संकेत तो कर ही रहे थे, उसकी कुछ प्रवृत्तियों को भी रेखांकित कर रहे थे जो महीन रूप में उसमें उभर रही थी।

यह उल्लेख्य है कि 'श्रीशारदा' में प्रकाशित निबंधों के पूर्व उनके अनेक निबंध तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके थे जिनका छायावाद की पृष्ठभूमि में ऐतिहासिक महत्व माना जा सकता है। 'हितकारिणी' में प्रकाशित 'कविता' नामक लेखमाला में उन्होंने भाव-स्वातंत्र्य, नवीन प्रवृत्ति, प्रकृति की रहस्यमयी चेतना, आनंदानुभूति और भाषा, छंद, लय आदि पर विस्तृत चर्चा की है। उन्होंने कविता को स्वर्गीय वस्तु कहकर काव्य में रस, अलंकार आदि की अपेक्षा भाव को महत्वपूर्ण माना- 'जो लोग कविता करते समय अलंकार आदि का अधिक ध्यान रखते हैं उनकी कविता प्रायः बिगड़ जाया करती है।... भाव ही कविता का प्राण है, जहां तक भाव-प्रकाशन में कोई

बाधा न हो वहीं तक अलंकार का प्रयोग करना चाहिए। कविता को सुस्वर और श्रुति-सुखद बनाने के लिए ही हमारे आचार्यों ने यमक, अनुप्रास आदि शब्दालंकारों की व्यवस्था की है। पर यह नहीं कहा कि अनुप्रास के प्रयास में पड़कर कविता के मुख्य गुणों को भुला देना चाहिए।... जो सुकवि हैं उनकी रचना स्वभाव से ही सालंकार होती है।<sup>13</sup> कविता के संबंध में यही विचार आचार्य शुक्ल के भी हैं। आचार्य शुक्ल अलंकारों का उपयोग भाव-सौंदर्य की सृष्टि करने में ही मानते हैं- 'भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली उक्ति अलंकार है।' (गोस्वामी तुलसीराम) मुकुटधर पाण्डेय आचार्य शुक्ल की भांति अलंकारों में रमणीयता का समर्थन करते हैं। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि अलंकारों का सहज प्रयोग स्वागत योग्य है, अन्यथा उसके हठात् प्रयोग से कविता प्रायः बिगड़ जाया करती है। यह विचार-स्वातंत्र्य नवीन काव्यधारा के लिए अत्यंत हितकर साबित हुआ। अपने पूर्ववर्ती काव्यधाराओं से भिन्न छायावादी काव्य-शिल्प में नवीनता का जो रूप दिखाई दिया, बहुत कुछ इसी प्रकार की विचारधाराओं का ही परिणाम है। बाद में पंतजी ने भी 'पल्लव' की भूमिका में लिखा कि 'अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं,' वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। जहां भाषा की जाली केवल अलंकारों के चौखटे में फिट करने के लिए बुनी जाती है, वहां भावों की उदारता शब्दों की कृपण जड़ता में बंधकर सेनापति के दाता और सूम की तरह 'इकसार' हो जाती है। स्पष्ट है कि प्रायः सभी छायावादी कवियों एवं आलोचकों ने काव्य में अलंकार की अपेक्षा भाव को प्रधान माना है। इस प्रकार मुकुटधरजी ने छायावाद के संदर्भ में जिन प्रवृत्तियों की चर्चा की, कमोवेश सभी छायावादी आलोचकों ने स्वीकार किया।

समग्रतः कहा जा सकता है कि मुकुटधर पाण्डेय छायावाद के प्रथम व्याख्याकार और निबंधकार हैं। उन्होंने न केवल छायावाद का नामकरण किया बल्कि उसकी सूक्ष्म और गंभीर विवेचना भी की। उनके निबंधों में तत्कालीन रचना-प्रवृत्ति के साथ-साथ दूसरे-तीसरे दशक की खड़ी बोली हिंदी की स्थिति पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

#### संदर्भ

1. श्रीशारदा, वर्ष-1, खंड-1, संख्या-6, 13 सितंबर 1920, पृ. 340
2. हिंदी में छायावाद, मुकुटधर पाण्डेय, पृ. 79
3. श्रीशारदा, वर्ष-1, खंड-1, संख्या-5, 16 जुलाई 1920, पृ. 277
4. वही, पृ. 278, 5. वही, पृ. 283, 6. वही, वर्ष-1, खंड-1, संख्या-6, 13 सितंबर 1920, पृ. 340, 7. वही, पृ. 341
8. देखें, निराला की साहित्य साधना, भाग-3, रामविलास शर्मा, पृ. 14
9. श्रीशारदा, वर्ष-1, खंड-1, संख्या-6, सितंबर 1920, पृ. 341
10. वही, पृ. 343 'They come and ask me 'Who is he?' I know not how to answer them. I say 'Indeed I can not tell!'- GITANJALI
11. वही, पृ. 341, 12. वही, वर्ष-1, खंड-1, संख्या-2, 11 नवंबर 1920, पृ. 97
13. 'कविता', हितकारिणी, भाग-9, संख्या-1, अप्रैल 1919, पृ. 3

## नित्यानंद तिवारी : मध्ययुगीन काव्य की सामयिक व्याख्या

### रविरंजन

प्रो. नित्यानंद तिवारी की छवि स्मृति में आते ही कवि शमशेर की एक काव्यपंक्ति की अनायास याद हो आती है-‘सगुन दिवस का विचारता-सा मौन ।’ छठे वेतन आयोग के कार्यान्वयन और सातवें वेतन आयोग की सिफारिशों के लागू होने का इंतजार करते खुशहाल मध्यवर्ग तथा सुखासीन समुदाय के तंदुरुस्त और बड़बोले शिक्षक मित्रों के बीच दुबली-पतली कायावाले तिवारीजी का दहाड़ता हुआ मौन हममें से कुछ लोगों को भले न सुनायी पड़े, किंतु, पढ़ने-लिखने में रूचि रखने वाले छात्रों और प्राध्यापकों के लिए उनकी समझदार चुप्पी आज के तथाकथित उत्तर-आधुनिक युग में पहले की अपेक्षा ज्यादा अनुकरणीय है। वजह यह कि जैसे ठीक-ठीक पढ़ाने के लिए यथायोग्य खुद पढ़ना जरूरी है, वैसे ही कुछ मतलब की बात करने के लिए दूसरों को सुनने का धीरज भी अपरिहार्य है।

याद रहे कि इस सुनने-सुनाने के क्रम में व्यक्तिगत बातों पर नित्यानंदजी का काष्ठमौन धारण कर लेना भी मानीखेज हुआ करता है। हैदराबाद केंद्रीय विश्वविद्यालय और मौलाना आजाद नेशनल उर्दू यूनिवर्सिटी में संगोष्ठी के दरमियान उनके संपर्क में आने पर मैंने अनुभव किया कि उम्र के इस पड़ाव पर भी नयी से नयी किताब पढ़ने और युवा पीढ़ी को जल्दबाजी में छोटी पगडंडी पर चलने के बजाए मुख्य सड़क से पूरा फासला तय करके ज्ञान के अथाह सागर में तैराकी की जगह गोताखोरी करने की प्रेरणा देना उनका स्वभाव है। इस प्रसंग में मुरारि के सुप्रसिद्ध श्लोक का स्मरण स्वाभाविक है :

*अद्भिलन्धितेव वानरभटैः किन्त्वस्य गम्भीरताम् ।*

*आपाताल निमग्न- पीवरतनु-जानाति मन्द्राचलः॥*

मात्रा-भेद से कुछ इसी तरह की बात मैंने अपने गृहनगर मुजफ्फरपुर में आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री, हिंदी के कृती कवि और नवगीतकार राजेंद्र प्रसाद सिंह और अपभ्रंश काव्य के विद्वान प्रो. सर प्रमोद कुमार सिंह में भी देखी है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शिष्य नामवरजी, केदारजी और मैनेजर पांडे भी इसी परंपरा को समृद्ध करनेवाले महान शिक्षक रहे हैं और एक हद तक शिवकुमार मिश्र और हैदराबाद में मेरे शिक्षक रहे विजेंद्र नारायण सिंह में भी यह गुण था। कहने की जरूरत नहीं कि विश्वविद्यालयों में ऐसे विद्वान अध्यापकों की पीढ़ी अब समाप्त प्रायः है ‘तेहि नो दिवसा गतः’।

वस्तुतः डॉ. नगेन्द्र के बाद दिल्ली विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के विद्वान प्राध्यापकों की जो

त्रिमूर्ति पूरे देश में हिंदी पढ़ने-पढ़ानेवालों के बीच अपने शब्द और कर्म की वजह से बहुचर्चित रही है, उनमें निर्मला जैन, नित्यानंद तिवारी और विश्वनाथ त्रिपाठी शामिल हैं। इनमें निर्मला जैन अपने तल्लू अंदाज के साथ ही साहित्य-सिद्धांत पर अद्भुत पकड़ और विपुल मात्रा में आलोचनात्मक लेखन, नित्यानंद तिवारी अपने मितभाषी स्वभाव और नए-पुराने साहित्य की सामयिक व्याख्या और विश्वनाथ त्रिपाठी अपनी व्यवहार कुशलता तथा आलोचना कर्म के अलावा सृजनात्मक लेखन के कारण जाने जाते रहे हैं।

गौरतलब है कि इनमें मात्रा की दृष्टि से डॉ. तिवारी का लिखा-बोला भले ही अल्प रूप में पुस्तकाकार सामने आया हो, पर उसमें वजन कम नहीं है।

नित्यानंद तिवारी शिद्ध के साथ महसूस करते रहे हैं कि 'पुराने साहित्य को बोझ और नए साहित्य को गतिशील मानकर चर्चा करने में एक खास किस्म का उत्साह और आसानी होती है और अगर पक्षधरता उलट दी जाए तो भी उत्साह के किस्म और आसानी के स्तर में कोई अंतर नहीं पड़ता. .. अपनी सामयिक स्थिति को परिभाषित किए बिना और उस जमीन पर मजबूती से खड़े हुए बिना सदियों का ज्ञान बोझ और पागलपन के अलावा और कुछ नहीं है।'

लगभग पूरी दुनिया में इतिहास की छाती पर मूंग दलते मिथक के महिमामंडन और धार्मिक चरमपंथ तथा फिरकापरस्ती के नए सिरे से उभार के इस युग में अपने पुराने साहित्य को बोझ मानकर नकार देने और नए साहित्य में हर सामयिक समस्या का समाधान ढूंढनेवाले अध्येताओं को याद दिलाना जरूरी है कि कोई चाहकर भी इतिहास से पिंड छुड़ा सकता। इतिहास को मार्क्स ने ठीक ही प्राकभविष्य (Pre-future) कहा है। इसलिए भविष्य निर्माण के लिए इतिहास और इतिहास की विभिन्न कालावधियों में रचित साहित्यिक कृतियों से दो-चार होना हमारी नियति है। इस क्रम में अतीत के बजाए जब हम अपने वर्तमान की जमीन पर खड़े होकर पुराने साहित्य की सामयिक व्याख्या में प्रवृत्त होंगे, तभी समाज को भविष्य के लिए कोई सार्थक संदेश प्राप्त हो सकेगा।

कहने की जरूरत नहीं कि अतीत से संवाद किए बगैर पुरानी कही जानेवाली कृतियों की कोई भी व्याख्या पंडिताऊपन से ग्रस्त हो जाने के लिए अभिशप्त होती है। परिणामतः उसमें पांडित्य का रस भले मिल जाए पर उस स्फूर्ति और ताजगी का नितांत अभाव होता है, जो आलोचना को सर्जनात्मक साहित्य का दर्जा दिलाती है। विजयदेवनारायण साही और रामपूजन तिवारी की जायसी पर लिखित पुस्तकों से गुजरते हुए इस बात को सहज ही अनुभव किया जा सकता है।

इस संदर्भ में एक महत्वपूर्ण बात यह भी कि तुलसीदास रचित दोहे और जायसी के दोहे में मात्रा-भेद के चलते उनके रचनाविधान तथा रचनात्मक अभिप्राय और प्रभाव में पैदा होनेवाले अंतर से अनभिज्ञ भक्तिकाव्य के उत्साही आलोचकों से भिन्न नित्यानंद तिवारी के व्याख्यानों एवं निबंधों में मौजूद पुराने साहित्य की नयी सामयिक व्याख्या इसलिए विश्वसनीय है, क्योंकि वे शास्त्रीयता एवं पांडित्य की शक्ति और सीमा से पूरी तरह वाबस्ता हैं।

उनके आलोचक के लिए अतीत का वारिस होना गौरवपूर्ण या खतरनाक होने के बजाए एक ऐसा दायित्व-बोध है, जो अतीत के व्याख्याता के 'अनुभव के भीतर से फालतू उत्साह और आसानी के भाग को समाप्त कर देता है।' इसका सुफल उनके ही शब्दों में यह होता है कि व्याख्याता के 'अनुभव के भीतर एक नयी अंतर्वस्तु पैदा हो जाती है जो प्रश्नों और व्याकुलताओं का सामना करने

में सार्थक होती है।’

अपने इस नजरिए से जायसी कृत ‘पद्मावत’ के सुप्रसिद्ध ‘सुआ-संवाद खंड’ में निहित ‘संघर्ष का कला-विवेक’ को उद्घाटित करते हुए डॉ. तिवारी सवाल उठाते हैं कि ‘इस खंड के चारों पात्र-राजा, रानी, तोता और धाय-मध्ययुग के सामाजिक तथ्य हैं या महज रूपक या प्रतीक हैं-आत्मा, परमात्मा, गुरु के? इन्हें हम रूपक या प्रतीक से भिन्न सामाजिक तथ्य मानें तो किस तरह से?’ इस सन्दर्भ में उनकी स्थापना है कि मध्ययुगीन समाज अध्यात्म और काम की अतिजीवी शक्तियों से आक्रान्त था और इन दोनों क्षेत्रों में स्त्री की स्थिति नगण्य और तुच्छ थी। उनके शब्दों में मध्यकाल में वह अध्यात्म में सबसे बड़ी बाधा थी ही, काम के क्षेत्र में भी वह केवल उपभोग की वस्तु थी। उसकी कोई स्वतंत्र सत्ता और अस्मिता नहीं थी। ‘कवि ने उस आध्यात्मिकता और कामुकता से भरे समाज में नागमती की ‘प्लेसिंग’ इस तरह से की है कि नारी की सामाजिक हैसियत अत्यंत त्रासद रूप में उभरती है।’

‘पद्मावत’ के इस लोकप्रिय खंड की नब्ज पर सही जगह उंगली रखते हुए प्रो. तिवारी ने विस्तार से बताया है कि किस प्रकार इस पूरे खंड में नागमती का ‘डर’, ‘संकट’, ‘रूप’, ‘अधिकार का घमंड’ और तोते का साहस और संकट दोनों ही मानसिकताएं तत्कालीन समाज की तथ्यगत सच्चाइयां हैं। सवाल यह है कि तद्युगीन समाज की ये ‘तथ्यगत सच्चाइयां’ कविता के रचना-विधान में कैसे अनुस्यूत होती हैं। उनके अनुसार ‘कवि की प्रतिभा का कमाल इस बात में है कि वह दोनों सामाजिक सच्चाइयों को परस्पर एक-दूसरे के विरुद्ध तनावपूर्ण विधान में संगठित कर देता है। वह इन सच्चाइयों की कल्पना नहीं करता, वे तो समाज में मौजूद हैं, उसकी कल्पना और कला इस तनाव के संगठन में है।’ प्रकारांतर से आलोचक यहां रेमंड विलियम्स की ‘अनुभूति की संरचना’ का उल्लेख करते हुए परस्पर विरोधी-सी प्रतीत होनेवाली अनुभूतियों के जिस तनावपूर्ण संगठन को जायसी की कविता में रेखांकित करते हुए उसमें कला की सिद्धि का दिग्दर्शन करा रहा है, उसे एलेन टेट ने अंग्रेजी कविता के हवाले से ‘काव्य में तनाव’ के रूप में अभिहित किया है।

इस खंड में तोता द्वारा राजा को पद्मावती के रूप-सौंदर्य का अभिज्ञान कराने से नागमती के मन में पैदा हुए डर, तोता को छिपाने-मरवाने की उसकी मंशा और अंत में राजा की जिद पर पुनः राजा को तोता सौंपने की बाध्यता की मनःस्थिति को महाकवि जायसी ने इस प्रकार व्यक्त किया है :

*जुआ हारि समुझी मन रानी । सुआ दीन्ह राजा कहें आनी॥*

*मान मते हो गरब जो कीन्हा । कन्त तुम्हार मरम मैं चीन्हा॥*

‘रामचरितमानस’ में राम के वन गमन के अवसर पर कौशल्या के मन की घुटन से नागमती की घुटन की तुलना करते हुए आलोचक विलक्षण सूझ का परिचय देते हुए दो मध्ययुगीन कृतियों के इन दोनों पात्रों की वैयक्तिक घुटन को तद्युगीन समाज में स्त्री की घुटन से जोड़ते हुए लूसिएं गोल्डमान के हवाले से कविता में व्यक्त इस मानसिक संरचना की मध्यकालीन समाज में पूर्व उपस्थिति की ताकीद करता है। इसके बाद वह नागमती के कथन का अर्थान्वयन करता है : ‘. ..और मैं तो जानती थी कि तुम मुझमें ही मिले हुए हो लेकिन जब ताककर देखती हूं तो सबके पास हो।’ और, अंत में उसकी चुभती हुई एक टिप्पणी है : ‘यह जो दार्शनिकीकरण है उसके पीछे

‘मरम में चीन्हा’ का व्यंग्य धधकता रहता है। यानी तुम महान हो, तुम नीच हो।’

यह कविता की व्याख्या की पराकाष्ठा के साथ ही नित्यानंद तिवारी के आलोचक की सर्जनात्मकता का सबूत भी है।

कहने की जरूरत नहीं कि अस्सी के दशक में बीजिंग में स्त्री अधिकारों को लेकर हुए सम्मेलन में दुनिया के विभिन्न देशों से आए प्रतिभागियों द्वारा स्त्री के प्रति भेदभाव को नस्लीय भेदभाव करार देने की मांग के साथ ही रेडिकल स्त्रीवाद से लेकर समन्वित स्त्रीवाद तक की तमाम बहसों से प्रेरित और प्रभावित होकर ही पद्मावत के ‘सुआ-संवाद खंड’ की उपर्युक्त व्याख्या संभव है। ऐसा विश्लेषण यदि ठेठ मार्क्सवादी आलोचकों के यहां या ‘नयी कविता’ की जमीन पर खड़े विजयदेवनारायण साही की पुस्तक ‘जायसी’ में नहीं मिलता, तो इसमें चकित होनेवाली कोई बात नहीं है।

साहित्य को समाजविज्ञान का उपनिवेश बनने से बचाते हुए इतिहास, राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र एवं मनोविज्ञान के सिद्धांतों का नई-पुरानी साहित्यिक कृतियों के विश्लेषण-क्रम में यथासमय समानुपातिक प्रयोग करके रचना के विचारधारात्मक अर्थ को उद्घाटित करने में प्रोफेसर तिवारी को महारत हासिल है। अपने दूसरे गुरुभाइयों की तरह साहित्यिक कृतियों को इतिहास की धारा में रखकर देखना और विवेचन-विश्लेषण प्रस्तुत करना उनकी आलोचनात्मक प्रक्रिया की विशेषता है। इस क्रम में वे ‘संग्रह-त्याग’ का विवेक बखूबी रखते हैं और भारत की सामासिक संस्कृति और धर्मनिरपेक्षता की पुरजोर वकालत करते हैं।

शास्त्रों में विस्तार से धर्म-भाषा और दीक्षागम्य भाषा का अंतर स्पष्ट किया गया है। किंतु, प्रो. तिवारी हमें बताते हैं कि काव्यभाषा या कलात्मक संरचना के कारण मूल विषय का रचनात्मक प्रभाव कैसे अपने प्रतिपाद्य विषय से भिन्न ही नहीं। बल्कि विपरीत होता है। एक व्याख्यान में उन्होंने ‘पद्मावत’ में वर्णित ‘हिंदू-तुरुकों का संघर्ष’ के संदर्भ में साहित्यिक कृतियों की महती भूमिका को रेखांकित करते हुए कहा है कि ‘हिंदू और तुरुकों में लड़ाई हुई। पूरी कथा को जायसी ने भाषा, चौपाई में लिख दिया और जब कहानी बन गयी तो उसका विषय (हिंदू-तुरुकों का संघर्ष) प्रेम की संवेदना में बदल गया। शब्द-भाषा और कथा संरचना की यह अद्भुत परिवर्तनकामी प्रक्रिया है। उसे हिंदू और तुरुक होकर न पढ़ा जा सकता है, न उसका रस लिया जा सकता है। जो हिंदू और तुरुक होकर पढ़ना चाहता है, वह तो घटना में ही फर्क हो जाएगा यानी कहानी से दूर हो जाएगा। जो हिंदू और मुसलमान होते हुए भी अपनी धार्मिक पहचान का अतिक्रमण करनेवाला हो, वह कहानी के निकट हो जाएगा। ‘पद्मावत’ की साहित्यिक संरचना भाव, रूप और समाज का भी रूपांतरण करती है।’ कहना न होगा कि शुक्लजी, साहीजी और डॉ. तिवारी समेत ‘पद्मावत’ के तमाम अध्येताओं द्वारा चिह्नित यह ‘मानुष प्रेम’, ‘नारद भक्तिसूत्र’ के दार्शनिक अनिर्वचनीय ‘मूकास्वादानवत प्रेम’ से कहीं ज्यादा मानवीय है।

बावजूद इसके, जब डॉ. तिवारी किसी दैनिक समाचारपत्र में प्रकाशित एक खबर का हवाला देते हुए भक्तिकाव्य की परंपरा में अनुस्यूत भारत की गंगा-जमुनी तहजीब और सामासिक संस्कृति के असली वारिस के तौर पर कट्टर हिंदू और मुसलमान समुदायों के प्रतिनिधियों के बरअक्स एक ऐसी मोहतरमा का नामोल्लेख करते हैं, जो गुजरात के दंगाग्रस्त लोगों को न्याय दिलाने को लेकर अतिसक्रिय होने पर भी ‘फोर्ड फाउंडेशन’ से अपने स्वयंसेवी संगठन के लिए दान में प्राप्त बड़ी

धनराशि के घोटाले में खुद आरोपी हैं, तो बात बन नहीं पाती। बहरहाल, इसे एक बड़े आलोचक के विचलन के तौर पर देखा जाना चाहिए।

वस्तुतः साहित्य-संस्कृति के क्षेत्र में लोकप्रिय नुस्खा अपनानेवाले लोगों के लिए यह एक सबक भी है। याद रहे कि अखबार में प्रकाशित किसी समाचार के समुचित रचनात्मक तत्वांतरण से रघुवीर सहाय या नागार्जुन की तरह कविता तो रची जा सकती है, पर सार्थक आलोचना हरगिज नहीं। ऐसी आलोचना के सतही राजनीतिक बयानबाजी में बदल जाने की संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता।

भारत जैसे बहुधार्मिक, बहुजातीय और वैविध्यपूर्ण सभ्यता और मिलीजुली संस्कृति पर मंडराते खतरे से निजात दिलाने के लिए 'पद्मावत' के संदर्भ में विजयदेवनारायण साही द्वारा रेखांकित 'फिरदौसी समन्वय' की प्रक्रिया बहाल रखने हेतु चिंतनशील मध्यकालीन कविता की सामयिक व्याख्या में प्रवृत्त हमारे समय के आलोचकों को याद दिलाना शायद जरूरी हो कि आज सूफी मत और काव्य में निहित प्रेम-संवेदना को किसी अन्य मजहब के बजाए खुद इस्लाम धर्म की अंदरूनी फिरकावारियत से खतरा है। मध्यपूर्व में 'अलकायदा', 'इस्लामिक स्टेट ऑफ इराक एंड सीरिया' आदि के अलावा 'हिजबुल्लाह' और 'बोकोहराम' जैसे संगठन और भारतीय उपमहाद्वीप में अरब मुल्कों की इमदाद पर इस्लाम के जिस वहाबी या सलाफी रूप का तेजी से विस्तार हो रहा है, उसके अनुसार सूफियों के यहां मौसिकी और कव्वाली का प्रचलन हिंदुओं के भजन-कीर्तन की इस्लाम में अवांछित घुसपैठ है और इससे छुटकारा पाने के लिए सूफी मजारों पर ऐन 'धमाल' के वक्त बम धमाके भी हो रहे हैं। हाल में क्वेटा (पाकिस्तान) के पास एक सुप्रसिद्ध सूफी दरगाह में 'लश्कर-ए-जांजावी' द्वारा प्रायोजित बम विस्फोट में सैकड़ों लोग मारे गए हैं और बंगलुरु में सलाफियों के सशस्त्र हमले में सूफी संप्रदाय के कई लोग बुरी तरह घायल हुए हैं। यह कितनी विचित्र बात है कि पाकिस्तान के जिस पंजाब प्रांत में सूफी फकीर बाबा बुल्लेशाह का मजार है, उसी प्रांत में 'लश्कर-ए-तैयबा', 'जैश-ए-मुहम्मद', 'जमातुल दावा' और 'लश्कर-ए-जांघवी' के मुख्यालय भी हैं और अभिनवगुप्त, लल्लेश्वरी और हब्बा खातून की भूमि कश्मीर घाटी में खीर भवानी तथा हजरतबल की मिलीजुली संस्कृति को ठेंगा दिखाते हुए धार्मिक चरमपंथी छोटे बच्चों के स्कूल जला रहे हैं।

कुल मिलाकर कहना यह है कि 'मानुस प्रेम भयऊ बैकुंठी' की घोषणा करनेवाला तसव्वुफ दर्शन और सूफी संप्रदाय आज इस्लाम के भीतर भयानक संकट के दौर से गुजर रहा है। यह बात अलग है कि धार्मिक चरमपंथियों और वहाबियों के यहां उन्माद चाहे जितना हो, उनमें उस कवित्व का अभाव है जिसमें निहित 'त्रासद दृष्टि' (Tragic Vision) की वजह से हम अपनी धार्मिक पहचान को अतिक्रमित करके अश्रुपूरित नेत्रों से बाबा बुल्लेशाह की तरह मजहबी किताबों का निरंतर पठन-पाठन करके आलिम-फाजिल होने के बजाए अपने आप को पढ़ना बेहतर महसूस करने लगते हैं। एक-दूसरे की निर्मम हत्या करनेवाले आतंकी मजहबी संगठनों के मुजाहिदीनों को अपने विरोधियों की लाश पर पागलपन में नाचते देखकर जायसी याद आते हैं, जो अलाउद्दीन और रत्नसेन के बीच हुए युद्ध में संभावित अनाचार की आशंका से क्षत्राणियों के जौहर कर लेने, युद्ध के दरमियान तमाम शूर-वीर जवानों के मारे जाने और अंततः राजमहल के धराशायी हो जाने के बाद चित्तौड़ के कथित इस्लामीकरण पर उदास होकर कहते हैं :

जौहर भई इस्तिरी पुरुख भए संग्राम

पातसाहि गढ़ चूरा चितउर भा इसलाम ।

प्रो. साही ने जायसी पर लिखते हुए बार-बार इस दोहे में निहित अर्थध्वनि की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है और डॉ. तिवारी भी अपने व्याख्यानों में इसे बारहा उद्धृत करते रहे हैं।

साहित्य के एक आलोचक और विचारक के रूप में नित्यानंद तिवारी को मूलगामी (Radical) कहने पर कुछ अग्निवर्षी रचनाकारों और क्रान्ति के ढिंढोरची आलोचकों को आपत्ति हो सकती है। स्मरणीय है कि मनुष्य होने के लिए जब मूल मानदंड मनुष्यता ही है, तो धर्म, जाति, वर्ग, लिंग आदि को लेकर इतिहास की विभिन्न कालावधि में पैदा हुए पूर्वग्रह की वजह से मानव समाज में निर्मित तमाम तरह की गुलामी की संरचनाओं से मनुष्य की मुक्ति के लिए सतत् सोचने-विचारने वाले विद्वान को रेडिकल कहना अतिशयोक्ति नहीं है।

यह आकस्मिक नहीं है कि एक प्रोफेसर-आलोचक के रूप में डॉ. तिवारी साहित्य-अध्ययन की पद्धति और आलोचना की प्रक्रिया को बहुत महत्वपूर्ण मानते हैं तथा इस संदर्भ में आलोचक के दृष्टिकोण और अपने समय-समाज से उसका बाखबर होना जरूरी मानते हैं। वजह यह कि इसके बगैर आलोचना किसी महान कृति की सामयिक अर्थवत्ता एवं सार्थकता की पड़ताल करने के बजाए पिष्टपेषण या चर्वितचर्वण करने करने लिए अभिशप्त होती है। अपने एक व्याख्यान में वे स्पष्ट रूप में इस बात को स्वीकार करते हुए कहते हैं : 'मेरी कठिनाई अध्ययन पद्धति की है। उस जगह को खोजने-पाने की है जहां से भक्ति को फिर से देखा जा सकता है। जिस तरह किसी वस्तु का चित्र, कोण और कैमरे के फोकस पर निर्भर करता है, उसी तरह भक्ति-साहित्य का पुनरावलोकन भी देखने के कोण और दूरी पर निर्भर करता है।'

सच तो यह है कि नित्यानंद तिवारी की आलोचना एक ऐसी स्मृति-मंजूषा की तरह है जिसमें उनकी हर नयी स्थापना पुरानी स्थापनाओं को याद करती हुई और साथ ही अपने निजी पदचिह्न छोड़ती हुई आगे बढ़ती है। अभिनवगुप्त के शब्दों में कहें तो यह स्थिति मधुमास में हरे-भरे वृक्ष की तरह है, जहां कृति में पहले देखे हुए अर्थ-संदर्भ एवं लक्षित संरचनाएं भी रस-परिग्रह से नवीन समझ को जन्म देती हैं :

दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात् ।

सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः॥



## अंक के रचनाकार

- **रतनलाल-** एसोसिएट प्रोफेसर, इतिहास विभाग, हिंदू कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110007 ☎ 9818426159
- **साकेत कुमार सहाय-** प्रबंधक (राजभाषा), ओरियंटल बैंक ऑफ कॉमर्स, प्लॉट नं. 05, सेक्टर-32, कॉरपोरेट कार्यालय, गुडगांव (हरि.) ☎ 08800556043
- **कृष्ण प्रताप सिंह-** 5/18/35, बछड़ा सुल्तानपुर, फैजाबाद-224001 (उ.प्र.) ☎ 09838950948
- **कमलेश भट्ट कमल-** सी-631, गौड होम्स, गोविंदपुरम, गाजियाबाद-201013 (उ.प्र.) ☎ 9968296694
- **विजय बहादुर सिंह-** 29 निराला नगर, दुष्यंत कुमार मार्ग, भोपाल-462003 (म.प्र.) ☎ 9425030392
- **दूधनाथ सिंह-** एचआईजी-II-बी-7 एडीए कालोनी प्रतिष्ठानपुरी, इलाहाबाद (उ.प्र.) ☎ 9415235357
- **बुद्धिनाथ मिश्र-** देवधा हाउस 5/2 वसंत विहार एनक्लेव, देहरादून-248006 (उत्तराखंड) ☎ 9412992244
- **राजेंद्र चंद्रकांत राय-** अंकुर, 1234, जेपीनगर, आधारताल, जबलपुर- 482004 (म.प्र.) ☎ 07389880862
- **अमरीक सिंह दीप-** फ्लैट नं. 101, गोल्डी अपार्टमेंट, 119/372-बी, दर्शनपुरवा, कानपुर-208012 (उ.प्र.)
- **रामदरश मिश्र-** आर-38, वाणी विहार, उत्तम नगर, नई दिल्ली-110059 ☎ 9211387210
- **विष्णु नागर-** ए-34, नवभारत टाइम्स अपार्टमेंट, मयूर विहार, फेस-1, दिल्ली-110091 ☎ 9810892198
- **अनंत मिश्र-** नलिनी निवास, दाउदपुर, गोरखपुर-273001 (उ.प्र.) ☎ 9450441227
- **नरेंद्र पुंडरीक-** सचिव केदार स्मृति न्यास बांदा, डीएम कॉलोनी, सिविल लाइंस, बांदा-210001 (उ.प्र.) ☎ 9450169568
- **लालित्य ललित-** संपादक, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, नेहरू भवन-5, इंस्टीट्यूशनल एरिया, फेज-2, वसंत कुंज, नई दिल्ली-110070 ☎ 09873525397
- **देवेंद्र चौबे-** प्रोफेसर, भारतीय भाषा केंद्र, जे एन यू, नयी दिल्ली-110067 ☎ 09868272999
- **राजेश कुमार ब्यास-** 3/39, गांधीनगर, न्याय पथ, जयपुर - 302 015 (राज.) ☎ 09461500204
- **उत्पल बैनर्जी-** सीनियर भारती हाउस (प्रथम तल), डेली कॉलेज कैम्पस, इन्दौर- 452001 (म.प्र.) ☎ 9425962072
- **साधना अग्रवाल-** B-19/F, दिल्ली पुलिस अपार्टमेंट्स, मयूर विहार फेज-1, दिल्ली-110091, ☎ 09891349058
- **रामनारायण पटेल-** एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110007
- **रविरंजन-** ए-19 फेकल्टी क्वाटर्स, हैदराबाद केंद्रीय विश्वविद्यालय परिसर, गच्चीबावली, हैदराबाद- 500046 (आं.प्र.)
- **किशोर वासवानी-** 28 साकेत-2, वेजलपुर बाजार, पो.- जीवराज पार्क, अहमदाबाद-380251 (गुजरात) ☎ 9979851770

**महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा**  
**सदस्यता आवेदन-पत्र**

**विक्री एवं प्रसार कार्यालय**

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)

‘बहुवचन’ वार्षिक सदस्यता शुल्क	: बैंक ड्राफ्ट से रु. 300/- व्यक्तिगत
	रु. 400/- संस्थाओं/पुस्तकालयों के लिए
‘बहुवचन’ द्विवार्षिक सदस्यता शुल्क	: बैंक ड्राफ्ट से रु. 600/- व्यक्तिगत
	रु. 800/- संस्थाओं/पुस्तकालयों के लिए
‘पुस्तक-वार्ता’ वार्षिक सदस्यता शुल्क	: बैंक ड्राफ्ट से रु. 120/- व्यक्तिगत
	रु. 180/- संस्थाओं/पुस्तकालयों के लिए
‘पुस्तक-वार्ता’ द्विवार्षिक सदस्यता शुल्क	: बैंक ड्राफ्ट से रु. 240/- व्यक्तिगत
	रु. 360/- संस्थाओं/पुस्तकालयों के लिए
बहुवचन/पुस्तक वार्ता का संयुक्त एक वर्षीय शुल्क	रु. 420/- व्यक्तिगत
	रु. 580/- संस्थाओं/पुस्तकालयों के लिए

(कृपया मनीऑर्डर एवं चेक नहीं भेजें।)

ड्राफ्ट ‘महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा’ के नाम देय होगा और उसे निम्नलिखित पते पर भेजने की कृपा करें। किसी भी राष्ट्रीयकृत बैंक का ड्राफ्ट स्वीकार्य होगा।

**प्रकाशन प्रभारी**

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)

पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स

वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)

फोन नं. : 07152-232943

‘बहुवचन/पुस्तक-वार्ता’ पत्रिका के एक वर्षीय/द्विवर्षीय/संयुक्त सदस्यता के लिए रुपये .....  
का बैंक ड्राफ्ट संख्या ..... दिनांक ..... संलग्न  
कर रहा हूँ/कर रही हूँ, कृपया मेरी प्रति निम्नलिखित पते पर भिजवाएं :

नाम : .....

पता : .....

पिन कोड : .....

दूरभाष : ..... ई-मेल : .....

दिनांक : .....

(सदस्य के हस्ताक्षर)